सन्मति-साहित्य-रत्न-माला का उन्नचासवां रत्न

अमर-भारती

प्रवचनकार—

कविरत्न पण्डित मुनि "श्री अमरचन्द्रजी" महाराज

सम्पादक—

विजय मुनि शास्त्री, "साहित्यरत्न"

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

प्रकाशकीय

अपने प्रिय पाठकों के कर-कमलों में—कविरत्न श्रद्धेय अमरचन्द्र जी महाराज के लघु-प्रवचनों का संकलन व सम्पादन "अमर-भारती" समर्पित कर के हमें महान् सन्तोष हो रहा है।

कविश्री जी के प्रवचन युगस्पर्शी और अधतन नूतन समस्याओं के समाधान में सफल रहे हैं। प्रवचनों में केवल भावना ही नहीं, विचार तत्त्व भी पर्याप्त मात्र में समुपलब्ध होता है।

श्रद्धेय कवि जी महाराज जैन जगती के विख्यात विचारक महान् दार्शनिक, सफल कवि और मधुर प्रवचानकार हैं। आपके प्रवचानों में एक अनोखापन रूढिवाद के प्रति एक तीखापन और वक्तव्य विषम की उपस्थापन शैलीच मत्कृति--पूर्ण है।

कविरत्न जी लम्बे समय से अस्वस्थ हैं, और अभी भी वे स्वस्थ नहीं हो पाए हैं। इन दिनों में उन्होंने जो प्रवचन दिए हैं, वे लघु प्रवचन हैं। क्योंकि अस्वस्थ होने से वे अधिक बोल नहीं सकते थे।

प्रस्तुत पुस्तक "अमर-भारती" जयपुर वर्षावास और कुछ

पूर्व के लघु प्रवचनों का सुन्दर सम्पादन है। पूर्व प्रवचनों की अपेक्षा "अमर-भारती" के प्रवचन भावना और विचार के प्रकटीकरण में ही विशेषता नहीं रखते, बल्कि भाषा और शैली भी उनकी अघतन है।

सन् १९५५ के जयपुर वर्षावास के प्रवचनों के प्रकटीकरण का सम्पूर्ण श्रेय श्रीयुत बाबू प्रेमराज जी जैन रिपोर्टर राजस्थान विधान सभा को है, जिनके उत्साह और अथाह परिश्रम से ये प्रवचन लिखे गए हैं। संक्षिप्त लिपि में कितना श्रम होता है? फिर भी प्रेमराज जी प्रेम और सद्भाव के साथ लिखते रहे हैं। गुरुदेव कविरत्न जी के प्रति उनकी अनन्य भक्ति और श्रद्धा का ही यह शुभ फल है। सन्मति ज्ञान पीठ की ओर से मैं उनका हृदय से सस्नेह आभार मानता हूँ,

"अमर-भारती" के सुन्दर सम्पादन का सम्पूर्ण दायित्व तरुण और तेजस्वी लेखक श्री विजय मुनि जी पर है। भाषा का सौन्दर्य और शैली का माधुर्य आप के लेखन का विशेष गुण है।

अन्तमें मैं श्री भंवरलाल जी वोथरा को भी धन्यवाद दूंगा, जिनके प्रवन्ध में "अमर-भारती" का प्रकाशन शीघ्र और अच्छे ढंग से हो सका है। भँवरलाल जी वोथरा जयपुर के उत्साही कार्यकर्ताओं में से हैं। सर्वोदय समाज और

'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का भी आप कार्य करते रहे हैं। सन्मति ज्ञान पीठ की ओर से मैं आपका आभार मानता हूँ, क्योंकि आप ने अपना अमूल्य समय देकर "अमर-भारती को प्रकाशित करने में सहयोग दिया है।

रतनलाल जैन
मन्त्री

अमर भारती-संदर्शन

'अमरभारती' जीवनविषयक अमरत्व का विशिष्ट और दिव्य सन्देश लेकर, ऐसे परिपक्व चिन्तनशील साधक द्वारा मुखरित हुई है, जिसका, हृदय उदात्त, निर्मल और अखंड विश्वमैत्री मूलक भावनाओं से अनुप्राणित है। चिरसंचित विमलसाधना, दीर्घअनुभव एवं उन्नत विचार विभिन्न प्रसंगों पर प्रस्फुटित हुए हैं, वे, हृदय को स्पर्श करते हुए जनजीवन में सन्निविष्ट हो गए हैं। सचमुच हृदयोत्थित वाणी हृदय को स्पन्दित करती हुई, अन्तर्मन को झंकृत करती हुई, भारतीयजनजीवन में आप्लावित होकर, संस्कृति और सभ्यता की पुनीत स्रोतस्विनी बनकर सहस्राब्दियों तक मानवता का ऊर्जस्वल एवं प्रेरणाप्रद व्यक्तित्व उद्दीप्त किये रहती है। अमरत्व की कामना ही प्राणी-मात्र की अन्तश्चेतना है। वह केवल वाणीवैभव या वैचारिक

जगत तक सीमित न रहकर दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को गम्भीरतापूर्वक प्रभावित करती है, आलोकित करती है एवं अन्तर्मन को उद्बुद्ध कर चिरउत्कर्षसूचक उच्चआदर्श समुपस्थित कर भावी मानव के विकासार्थ सुदृढ़ परम्परा का निर्माण भी करती है। अमरत्व की सक्रिय साधना स्वयं राष्ट्र-भारती का भव्य भूषण है। इसकी तेजस्वितापूर्ण प्रभा प्राणी-मात्र के लिए प्रकाशस्तम्भ है।

सत्य की उपलब्धि ही मानवसाधना का लक्ष्य है। सत्य ही संसार में सर्वव्यापक है, जहां सम्पूर्ण सम्प्रदाय के संत एकत्र होते हैं। संत सत्य प्राप्त्यर्थ समाज की चिराचरित साधना नियत स्थान पर केन्द्रित करता है। भारतीय परम्परा, नैतिकता एवं संस्कृति का समूचा विकास व उत्कर्ष ही सत्योपलब्धि का वास्तविक इतिहास है। वाणी, व्यवहार एवं विचार की समन्वयात्मक त्रिवेणी पर संत का भव्य भवन, मानव ही नहीं, प्राणीमात्र के लिए निर्भय आश्रयस्थान है। संत परिस्थितिजन्य सत्य का अवलम्बन न लेकर शाश्वत सत्य की शोध करते हुए वीतरागत्व के प्रशस्त पथ का सोत्साह अनुगमन करता है। राष्ट्र एवं काल की सीमाओं से उनका व्यक्तित्व बहुत ऊर्ध्वस्त होने के कारण निर्मल, प्रेरक और सामान्य जन के लिए अनुकरणीय बन जाता है। आध्यात्मिक परम्पराओं में विश्वस्त मानव ऐसी ही सरिता में स्नान कर सुकृत्य के पथ पर चलने की उत्कृष्ट प्रेरणा लेता है। जन मन तथा जनसंयम ही उत्कर्ष व अन्तश्चेतना का

प्रधान केन्द्रबिन्दु है। विश्वमैत्री का सन्देश ही उसके चिन्तन का मधुर माध्यम है। वह कभी कभी इतना संवेदनाशील हो जाता है कि विश्वपीड़ा का अनुभव स्वपीड़ा के रूप में करता है। अपने साथ सारे विश्व को आत्मसात् कर लेता है। अतः वह यथार्थतः स्वावलम्बी व स्वाश्रयी होता है। प्रतापपूर्ण व्यक्तित्व सम्पन्न, अलौकिक, व प्रतिभावान् सन्तों के कारण ही हमारा विगत गौरव व अतीत अत्यन्त उज्ज्वल, उत्प्रेरक एवं बलवर्धक रहा है। भारतीय लोकचेतना के विकास, संरक्षण एवं प्रसारण में सन्तपरम्परा का प्राधान्य अतीव स्पष्ट है। श्रमणपरम्परा का मुख्य आधार है उसका चरित्र–संयम। संयम ही पतित मानव को या जागतिक विषमता को समत्व की प्रबल प्रेरणा दे सकता है। संयम की साधना ही अखंड विश्वमैत्री का जीवित, जागृत, सांस्कृतिक, व्यक्तित्व पूर्ण एक ऐसा प्रतीक है, जिस पर मानवता गौरव ले सकती है। आन्तरिक विश्वनीति निर्माण में ऐसी ही मानवता के उद्दीपन से संघर्ष एवं वैयक्तिक स्वार्थमूलक बातों को सदा के लिए समाप्त कर समत्व की मौलिक साधना का विकास संभव है।

मैं उत्क्रान्त एवं प्रबुद्ध कलाकार और सफल संत में मौलिक भेद नहीं मानता। कलाकार वही है जो आत्मस्थ सौन्दर्य से आप्लावित होकर, स्वानुभवमूलक सौन्दर्य को जागतिक आनन्द के लिए ऐसे बाह्य उपादानों द्वारा अनुभव करा सके,

जो इन्द्रियजन्य होकर भी आभ्यंतरिक तन्मयता का सुलभता पूर्वक बोध करा सके। अन्तर्मन और अन्तर्हृदय का जागरण ही सफल कलाकार की उच्चता का प्रतीक है। कलाकार शब्दों का, छेनिका, तूलिका और लेखनी का शिल्पी है, तो संत जीवन का शिल्पी है। वह दुष्प्रवृत्तियों एवं दुष्कर्मों द्वारा प्रसित आत्माओं को उनकी वास्तविकता का ज्ञान कराता है। आत्मस्थ सौन्दर्य पर पड़े हुए घने आवरणों को हटा कर सौन्दर्यज्योति को प्रज्वलित करता है और वह उपासक तक को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचाकर उपास्य बना डालता है। भारतीय दर्शन और श्रमण परम्परा की यह एक ऐसी विचार-मूलक मौलिक क्रान्ति है, जिसका, वास्तविक मूल्यांकन इस जनतन्त्रमूलक युग में नितान्त वांछनीय है। कलाकार सूक्ष्म आधार के द्वारा प्रकृतिगत सौन्दर्य को विचारा जगत् में छान कर संसार के सम्मुख भौतिक पदार्थों द्वारा उपस्थित करता है, तो संत जनजीवन को समत्व की मौलिक दृष्टि प्रदान कर, त्याग भावना द्वारा मानव को अन्य के लिए न केवल सौन्दर्योपलब्धि का माध्यम ही बनाता है, अपितु, सांस्कृतिक चेतना द्वारा औरों के लिए शाश्वत आनन्दोपलब्धि का प्रधान प्रतीक बनाकर गौरवान्वित होता है। कलाकृति को समझने के लिए विशिष्ट मानसिक पृष्ठभूमि अपेक्षित है, तो जीवन-सौन्दर्य सम्पन्न मानव-हृदय के अन्तस्तल को आत्मसात् करने के लिए तदनुकूल जीवन-दर्शन आवश्यक है। स्वानुभवमूलक सिद्धान्तों

का वैयक्तिक जीवन में प्रवेश तभी संभव है। लौकिक रहकर भी लोकोत्तर साधना में अपने आपको तन्मय कर देना ही भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का सन्देश है। इसीलिये भारत में वैयक्तिकचरित्रसुधार पर बहुत प्राचीन काल से ही सूक्ष्मतापूर्वक ध्यान दिया गया है। चारित्र भले ही व्यक्ति की मौलिक सम्पत्ति मानी जाती हो पर वस्तुतः अनुकरण प्रधान मानवीय वृत्ति होने के कारण, वह राष्ट्र व विश्व की सर्वग्राह्य सम्पत्ति है।

राष्ट्र का राजनैतिक विकास भले ही षडयन्त्रशील मनोवृत्तियों द्वारा सम्भव हो ? किन्तु, सांस्कृतिक और आत्मिक विकास नैतिक जीवन-सत्य द्वारा ही सम्भव है। और किसी भी राष्ट्र की स्वाधीनता की रक्षा इन्हीं तत्वों के वास्तविक विकास पर निर्भर है। सचमुच आध्यात्मिक संतों ने ठीक ही कहा है कि बिना लघुता अपनाये प्रभुत्व का प्रतापपूर्ण सिंहासन प्राप्त नहीं होता है। ऐसे ही साधक की औपदेशिक वाणी राष्ट्र में नवचेतना का सन्देश फूंक सकती है। अनुभवमूलक सत्य ही साधनानुभूति का दृढ़, पूर्ण, निर्दोष और बलिष्ठ माध्यम है। श्रमणपरम्परा का जीवन उपयुक्त पंक्तियों से ओत प्रोत रहा है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य और इतिहास इस बात का प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं, कि यहां की संत परम्परा पर जैनधर्म, संस्कृति और दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है। व्यक्तिमूलक साधना की विश्वस्त भावना के साथ बढ़ने वाले जैन मुनि लोकोत्तर जग की ओर आकृष्ट रहते हुए भी एका

एक लौकिक, सामाजिक या राष्ट्रीय विचारों की मूलचेतना से अपरिचित नहीं रहा है, बल्कि वह प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व की सुदृढ़ परम्परा और सुरक्षा के लिए सजग प्रहरी रहा है। मैं तो मानता हूँ कि जानतिक नैतिक उत्थान का वास्तविक उत्तर-दायित्व इन मंच पर गर्जन करने वाले नेताओं के दुर्बल कन्धों पर नहीं, किन्तु, संसार से कम से कम अपेक्षा रखने वाले उन सन्तों पर है, जो, केवल दाता के अतिरिक्त जीवन में कभी भी ग्राहक की कोटि में नहीं आता है। भारतीय स्वाधीनता के बाद का इतिहास हमारे सम्मुख है। यदि भारतीय सन्तपरम्परा नेतृत्वसम्पन्न व्यक्ति के जीवन में साकार होती तो, निश्चित नैतिक दृष्टि से आज हम न केवल विकास की चोटी पर ही होते, अपितु, राष्ट्रीयचरित्र का निर्माण भी हो चुका होता। भले ही भारत धर्मप्राण भूमि के रूप में अतीत में कीर्ति अर्जित कर चुका है, किन्तु, जब तक दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैय-क्तिक चरित्र की आभा का अनुभव नहीं होता तब तक हम अपने आपको मानवीयगुणसम्पन्न कैसे मान लें।

संयम में वीर्य का उल्लास बनाये रखना श्रमणविचार की विषमता निवारक कड़ी है, क्योंकि वही पार्थिव व अपार्थिव सौन्दर्योपलब्धि का माध्यम है। आत्मस्थ एवं अनुभवपूर्ण सौन्दर्य के उद्बोधन से जनता अधिक से अधिक परिचित हो सके, प्राणीमात्र आत्मैपम्य की भावना को आत्मसात् कर सके और लोकचेतना का चतुर्मुखी जागरण

हो सके, ऐसे ही विचारोत्तेजक, उदात्त एवं प्रेरणाप्रद विचारों से उत्प्रेरित होकर ही सन्त आत्म चिन्तन को जानतिक विकासार्थ उपस्थित जन के समक्ष मुंह खोलता है। उसे कहने के लिए कुछ नहीं कहना, किन्तु, आत्मपीड़ा प्रसयमूलक भावना से दुःखी जन जीवन के कारण ही कुछ कहना है, संचित निधि है उसी को वितरण करना है। वाणी वैभव का प्रदर्शन उसका कर्तव्य नहीं। उसका कर्तव्य है जन मन का सर्वांगीण उन्नयन। वह तनोन्नति में विश्वास नहीं करता, वह मनोन्नति की कामना करते हुए लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करता है। इसी लिए जनता के हृदय सिंहासन पर सन्त का स्थान अमिट है, क्योंकि वह परिस्थितिजन्य प्रवाह में प्रवाहित नहीं होता, प्रवाह को मोड़ देता है। उसकी वाणी व्यर्थ नहीं जाती। वह विकार में संस्कार उत्पन्न कर, व्यक्ति को ही नहीं, जीवमात्र को परिष्कृत कर सुदृढ़ अमर राष्ट्र का निर्माण करता है। अनुभव इस बात का साक्षी है कि वाणी और विचारों के वास्तविक सौन्दर्य में निखार तभी आता है जब कि व कठोर से कठोरतम साधनाजीवन की प्रयोग-शाला में ढलकर निकलें। विपत्तियों में भी जो सम्पत्ति का अनुभव करता है, उसी का वाचा बल साधनामूलक जीवन की यथार्थता का अनुभव करा सकता है। जीवनविकास पर विचार करने का अधिकार केवल ऐसे ही व्यक्तियों को है, जो स्वयं प्रतिकूल वातावरण में पल कर भी अनुकूल तत्वों की सृष्टि कर स्वान्तः सुख का अनुभव कर सकें। काल द्वारा कवलित होना

दुर्बलता है और काल को कवलित कर लेना मानवता है, यही सन्त परम्परा की रीढ़ है।

'अमरभारती' के विवेचक सन्त का व्यक्तित्व निःसन्देह बहुत ही उदार, स्नेहस्निग्ध एवं चिन्तन की सूक्ष्म आभा से ओत-प्रोत है। 'अमरभारती' में प्रस्तुत विचार उनकी गहनतम जीवन-मूलक साधना की सर्वोत्कृष्ट परिणति है। जिन्हें आपकी प्रवचनशैली का प्रत्यक्ष अनुभव है, वे, उपर्युक्त पंक्तिगत तथ्यों को सरलतापूर्वक आत्मसात् कर सकते हैं। जनमानस सुविधापूर्वक इन मूल्यवान् प्रवचनों को हृदयमन्दिर में पुनः प्रतिष्ठित कर सकें तदर्थ इनको निम्न तीन भागों में विभक्त किया है—

(१) जयपुर वर्षावास,

(२) श्रमण संघ विषयक,

(३) उद्बोधन,

कविश्री का जयपुर वर्षावास सचमुच, एक प्रकार, स्थानीय रुचिशील मानव संघ के लिए वरदान ही सिद्ध हुआ। इस प्रवचनों में मुनिश्री ने जो प्रेरणा मानव समाज को दी है, यदि इन्हें संचित कर जीवन में तन्मय किया जाय तो निःसंदेह विकास की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए पर्याप्त है। कतिपय प्रवचन इन पंक्तियों के लेखक ने प्रत्यक्ष श्रवणगोचर किये हैं। अनुभव हुआ कि ये प्रवचन, जैसे कि जैन मुनियों के होते हैं, उनसे, सर्वथा भिन्न ऐसे बोधगम्य व मर्मवेधी शैली में प्रस्तुत किये गए हैं; जिनका, जनमानस पर बहुत ही अच्छा प्रभाव

पड़ता है। इसमें संदेह नहीं है कि कविवर श्री की स्नेहस्निग्ध वाणी की स्वाभाविकता ने पारस्परिक वैयक्तिक सहानुभूति को बहुत बल दिया है। यद्यपि विशिष्ट प्रसंगभूत समस्याओं सूक्ष्म विवेचन भी इसमें सन्निविष्ट है, जिनका, नैमित्तिक सम्बन्ध भले ही केवल जयपुर तक सीमित हो, किन्तु, इनका स्वर सम्पूर्ण मानव समाज की समस्याओं को सुलझाने में सहायता देता है। सांसारिक जीवन से विमुख रहने वाला साधक लोकोत्तर जीवन की ओर तन्मयतापूर्वक बढ़ते हुए, किस प्रकार जनमन उन्नयनार्थ प्रयत्नशील है, इसका ज्वलन्त प्रतीक प्रत्येक व्याख्यान में प्रतिबिम्बित है। वात्सल्यरस की अजस्र धारा द्वारा प्रवाहित ये विचारकण मानव समाज की स्थायी सम्पत्ति हैं। बिना किसी भेदभाव के किसी भी सम्प्रदाय के महान् पुरुषों के प्रति विवेचक श्री की भावना, अत्यन्त संकीर्णतामूलक वातावरण में पलने ढलने वाले जैन मुनियों के लिए, एक ऐसा अनुकरणीय, आदर्श उपस्थित करती है जिसकी इस समन्वयवादी नवयुग जागरण में सबसे अधिक आवश्यकता है।

असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति को जीवनमें साकार करना सचमुच प्रत्येक व्यक्ति के लिए सभव नहीं। साम्प्रदायिकता को विषतुल्य मानने वाले बहुत ऐसे भी उपदेशदाता हैं,जिनका,अर्थात् असाम्प्रदायिक व्यक्तित्व भी एक सम्प्रदाय के रूप में ही अस्तित्व रखता है। इसका कारण उनकी वैयक्तिक विचार शैली न होकर वर्तमान की ओर विवेकहीन उपेक्षा ही कहना होगा।

वैयक्तिक स्वार्थमूलक, समाज को केवल अतीत के प्रकाश में देखने के अभ्यस्त, अपने ही सम्प्रदाय को सर्वशक्तिमान् एवं प्रशस्त मानने वाले मुनि समाज के लिए कविवर श्री ने सादड़ी, सम्मेलन को लक्षित करते हुए, जो, विचार व्यक्त किये हैं, जो प्रवचन दिये हैं, वे, भले ही जैन मुनिवरों से सम्बद्ध हों, किन्तु अन्तःपरीक्षण से यह स्पष्ट है कि सांसारिक वृत्तियों स संघर्ष करने वाले प्रत्येक साधक के लिए वे परम उपकारी हैं। इनमें ऐक्य की गंभीर प्रतिध्वनि है। उनकी घोर असाम्प्रदायिक मनोवृत्तियों का वास्तविक सृजनामूलक व्यक्तिकरण, उनके प्रवचनों में समाविष्ट है। एक विशिष्ट सम्प्रदाय से सम्बद्ध होते हुए भी, आपने जिस निर्भीकता से जो उदात्त विचार उपस्थित किये हैं, उनसे, यदि वर्तमान जैन मुनि समाज उत्प्रेरित हो, तो मुझे कहना चाहिये कि बहुत कुछ अंशों में जैन समाज की जो शक्तियां भिन्न स्थान में नष्ट हो रही हैं, वे, बचाई जा सकती हैं। यह उदारता केवल शाब्दिक जगत् तक ही सीमित नहीं, अपितु उनके जीवन की वास्तविक कृतियों में भी विद्यमान है। जैन मुनिसमाज भारतीय-संस्कृति की एक ऐसी सुदृढ संस्था है, जिसका, उन्नयन राष्ट्रीय नैतिकपरम्परा के विकास के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है, तब, जब कि वे आत्म कर्तव्यों को ठीक से समझें। सहानुभूति एवं सहिष्णुतामूलक वृत्तियों के द्वारा कविवर ने सादड़ी सम्मेलन में मुनिसमाज के एकीकरण में जो साफल्य प्राप्त किया है, वह, मूर्तिपूजक जैन मुनि

गण के लिए एक आदर्श है। छोटी मोटी अर्थहीन एवं भद्दी चर्चाओं लिप्त व आसक्त रहने वाले मुनियों को चाहिए कि वे मैत्रीमूलक जैनशासन को अधिक से अधिक पल्लवित व पुष्पित करने के लिये जीवन की सारी शक्ति एवं आध्यात्मिक साधना लगा दें। मुनि समाज का एक शृंखला में बद्ध हो जाना सचमुच राष्ट्रीय नैतिकता निर्माण के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी विचारोत्तेजक क्रान्ति है, यदि यह स्थायित्व रख सके तो।

प्रत्येक प्रमाद संयुक्त व्यक्ति को उद्बोधन की आवश्यकता रहती है। अप्रमत्त जीवन ही वस्तुतः जीवन है, जिसमें, सौन्दर्य की आभा निखर सकती है। सम्पूर्ण मानवसमाज को लक्षित करते हुए जो प्रवचन उद्बोधन में संकलित हैं, वे, सारे संसार के लिए अनुपम शान्ति व प्रेरणा की ओर संकेत करते हैं। अनेकान्त दृष्टि के प्रकाश में विश्व समस्याओं को सुलझाने का जो संस्कृतिमूलक प्रयास किया गया है, वह, यदि राजनैतिक जीवन यापन करने वाले नेता के द्वारा हुआ होता तो शायद विश्वसाहित्य की अमरवस्तु बन जाता, क्योंकि यह युग राजनीतिमूलक है और इतना कि संस्कृति भी राजनीति की सहचरी होकर ही जीवित रह सकती है। आज का मानस सन्तवाणी को केवल यही समझता है कि यह तो अमुक सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रवचन हैं, किन्तु, सूचित ग्रन्थान्तर्गत व्यक्त विचार प्राणीमात्र की वास्तविक उन्नति को लक्षित

करते हुए व्यक्त किये हैं। वह भी केवल मानसिक विकार के रूप में नहीं, किन्तु, जीवन की साधना में सनकर और छनकर निखरा है, इसीलिये अमर है।

'अमरभारती' के समस्त प्रवचन मानव को ही नहीं, प्राणी-मात्र को अमरत्व का सन्देश देकर, ऊर्जस्वलव्यक्तित्व निर्माण के लिए उत्प्रेरित करते हैं। दीर्घकालव्यापी साधना का समिश्रण तो इनमें है ही साथ ही उनमें अपना साहित्यिक व सांस्कृतिक व्यक्तित्व भी झलक रहा है। साम्राज्यवादमूलक सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रभावित मनीषियों ने श्रमण परम्परा द्वारा देश पर पड़े हुए नैतिक प्रभाव का उचित मूलांकन भले ही न किया हो, पर, इन संकलित प्रवचनों को पढ़ने से विचार भावना के रूप में बदल जाते हैं कि यदि जनतन्त्रमूलक युग में व्यक्तिस्वातन्त्र्यमूलक श्रमणपरम्परा एवं उनके प्रेरक विचारों का समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ तो हमारे राष्ट्र का भावी विकास चरम सीमा तक शायद न पहुँच सके। 'अमरभारती' के चिन्तक चाहे व्यक्ति हैं, किन्तु, वह एक बहुत बड़ी समष्टि है। उनके चिन्तन में भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता और समाजतत्व के स्वर हृदयतन्त्री को झंकृत करते हुए जीवन को सच्चरित्र बनाने की भव्य भावना और प्रेरणा देते हैं।

यों तो विवेचक श्री का व्यक्तित्व इतना उज्ज्वल और निश्छल है कि उस पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रह

जाती, पर लिखने का लोभ संवरण नहीं किया जा रहा सकता। कविवर्य श्री अमरचन्द्रजी महाराज जिस प्रकार जीवनरूप साधक हैं, संयममय जीवन व्यतीत करते हैं, उसी प्रकार साहित्य निर्माण के क्षेत्र में भी सतत मनस्वी द्रष्टा के रूप में अपना अस्तित्व रखते हैं। उनके हृदय का कलाकार जागरूक चिन्तक और जागरूक भावोक्ता के रूप में जीवित है। यही कारण है कि अन्तर्मुखी चितवृत्तियों के विकास की साधना में रत रहते हुए भी समाज और राष्ट्र की लौकिक समस्याओं के प्रति भी वे सावधान हैं। चिंतनप्रधान मस्तिष्क होने के कारण उनके विचारों में दार्शनिकता का रहना स्वाभाविक है। यद्यपि हृदय से वे कलाकार हैं और ऐसे कलाकार कि जिनकी साधना साहित्यिक जगत में ही चमत्कार नहीं अपितु, आन्तरिक जगत को, उद्बोधित करती है। ढाई दर्जन से अधिक ग्रन्थों में आपने अपने गहन चिन्तन को व्यक्त किया है, संवारा है संजोया है। जहां तक मेरा विश्वास है कि जैन समाज में दर्शन और धर्म के पारिभाषिक शब्दों को लेकर गम्भीर से गम्भीर चर्चा करने वाले मुनियों और महामनीषियों की अल्पता नहीं है, किन्तु, उनकी जीवनगत मार्मिकता और यथार्थता को संवेदनाशीलवृत्ति से विचार करने वाले अत्यल्प ही हैं, और उनकी भी संख्या अल्प ही है, जो विश्वसमस्याओं को वर्तमान के प्रकाश में देखकर अतीत के समीचीन तत्वों के आधार पर भविष्य के स्वर्णिम और सुदृढ़ स्वप्न देख रहे हैं। कविवर इसी

परम्परा की की एक ऐसी कड़ी है जिस पर मानवता की अमरलता पनप सकती है।

जीवनोन्नति के प्रशस्त क्षेत्र को आलोकित करने के लिए ज्ञानशलाका स्वरूप, बहुमुखी चिन्तनशील इन प्रवचनों का, संकलन व सम्पादन विवेचक श्री के सुयोग्य शिष्य श्री विजय मुनि जी द्वारा हो रहा है। यह परम सन्तोष और आनन्द का विषय है। इस लोकतन्त्रात्मक युग में उदार व्यक्तिसंपन्न और मनस्वी व्यक्तियों की साधनाजनित वाणी का ही महत्व है। अतः प्रवचन केवल प्रचार का साधन नहीं बनकर मानव जीवन के उत्कर्ष पथ का सृजन कर सके, तो विवेचकवर्य श्री का प्रयत्न पूर्ण सफल समझा जायगा।

श्री शिवजीराम भवन
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता
जयपुर,
दिनांक ४ मार्च, १९५६

मुनि कान्तिसागर

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

(जयपुर वर्षावास १९५५)

		पृष्ठ
१.	भारतीय संस्कृति का सजग प्रहरी	१
२.	बरसो मन सावन घन बरसो	७
३.	मानव मन का नाग पासः अहंकार	१९
४.	यो वै भूमा तत्सुखम	२५
५.	मानव की विराट चेतना	३५
६.	भारत की विराट आत्मा	४१
७	काल पूजा, धर्म नहीं	४७
८.	ध्येय-हीन जीवन, व्यर्थ है	५२
९.	जैन संस्कृति का मूल स्वरः विचार और आचार	६२
१०.	समस्या और समाधान	७१
११.	जब तू जागे तभी सवेरा	७६
१२.	मानवता की कसौटीः दया	८५
१३.	सयंम की साधना	९०
१४.	दीप-पर्व	९१
१५.	वर्षा वास की पूर्णाहुति	१०१

१६. हरिजन दिवस ११२
१७. वर्षावास की विदा १२१

द्वितीय खण्ड

श्रमण संघ

१. भिक्षा कानून और साधु समाज १
२. सम्मेलन के पथ पर ७
३. मंगल मय संत जीवन १०
४. नगर-नगर में गूंजे नाद, सादड़ी सम्मेलन जिन्दाबाद १५
५. सत्पुरुष स्वयं ही अपना परिचय है २०
६. शक्ति का अजस्र स्रोतः संघटन २६
७. वर्धमान श्रमण संघ ३२

तृतीय खण्ड

उद्बोधन

१. अनेकान्त दृष्टि १
२. सच्चा साधक ११
३. संसार बुरा नहीं, व्यक्ति की दृष्टि बुरी है १७
४. पत्रकार सम्मेलन में, कविरत्न श्रद्धेय अमर चन्द्रजी २४
५. पंचशील और पंच शिक्षा ३०
६. जीवन, एक कला ३७
७. जीवन, एक सरिता ४४

८. जीवन के राजा बनो, भिखारी नहीं	५१
९. दिशा के बदलने से दशा बदलती है	५७
१०. भक्त से भगवान	६५
११. चार प्रकार के यात्री	७२
१२. आज का प्रजातन्त्र और छात्र जीवन	७८
१३. जैन संस्कृति की अन्तरात्मा	८३
१४. श्रमण संस्कृति का प्राणवन्त प्रतीक 'पर्वराज-पर्युषण'	८८
१५. मानव की महत्ता	८९
१६. दीपावली और सहधर्मी सेवा	९५
१७. अपने आपको हीन समझना पाप है	१००
१८. भारत का राष्ट्रवाद	१११
१९. जनतन्त्र-दिवस	१२१
२०. कर्त्तव्य-बोध	१३१

※ इति शुभम् ※

प्रथम खण्ड

जयपुर वर्षा-वास

सन् १९५५

: १ :

भारतीय संस्कृति का सजग-प्रहरी

भारत की संस्कृति—भारत के जन-जन के मन-मन की विराट भावनाओं की महान् प्रतीक है, महान् संकेत है। यह संस्कृति संगम की संस्कृति है, मिलन सम्मिलन की संस्कृति है, मेल-मिलाप की संस्कृति है। संस्कृति का अर्थ मात्र इतना ही न समझें-साहित्य, संगीत, चित्र और नृत्य कला-यह सब होकर भी यदि जन जीवन में सादगी, संजीदगी, सहयोग और सहकारिता नहीं, तो भारतीय चिन्तन में और भारतीय विचार-मन्थन में-उसे संस्कृति कहना एक गुरुतर अपराध होगा। भारत की संस्कृति उस कूप के समान नहीं है, जो अपने आप में बन्द पड़ा रहता है, बल्कि वह गंगा के उस सदावाही विशाल प्रवाह

के तुल्य है. जो अपने दायें-बायें सरसता और मधुरता का अक्षय भण्डार बिखेरता चलता है। अपनी महान् निधि को मुक्त हाथों लुटाता चलता है। और साथ ही वह इधर-उधर से आ मिलने वाले लघु-लघु जल प्रवाहों को अपना विराट रूप भी देता चलता है। भारत की संस्कृति का यह एक महतोमहान संलक्ष्य रहा है, कि वह बहुत्व में एकत्व का अधिष्ठान बने, भेद में अभेद का महास्वर झंकृत करे और विरोध में भी विनोद का मधुर संगीत अलाप सके।

भारत की पुण्य भूमि पर नये-नये दर्शन आए, नये-नये धर्म आए और नये-नये पन्थ आए—कुछ काल तक उन्होंने अपने अस्तित्व को अलग-अलग रखा—किन्तु अन्त में वे सब सह अस्तित्व के वेगवान् प्रवाह में विलीन हो गए। एकमेक हो गए। उन सब का एक संगम बन गया और, यही भारतीय संस्कृति है।

भारत की संस्कृति का सजग प्रहरी है सन्त, मननशील मुनि और श्रमशील श्रमण। महावीर व बुद्ध के भी पूर्वकाल से प्रकाशमान भारतीय संस्कृति का देदीप्यमान नन्दा-दीप काल की प्रलम्बता के झोंकों से धूमिल भले ही पड़ता रहा हो, परन्तु परम्परा से चलती आने वाली सन्तों की विचार ज्योति से वह उद्दीप्त होता रहा है और उस की अजस्र प्रकाशधारा आज भी संसार को स्तम्भित व चकित कर रही है। वस्तुतः भारत की संस्कृति का सच्चा स्वरूप सन्त परम्परा में ही सुरक्षित व

सुस्थिर रहा है। भारत का सन्त-भले ही वह किसी भी पन्थ का, किसी भी सम्प्रदाय का, और किसी भी परम्परा का क्यों न रहा हो-उसके विचार में, उसकी वाणी में, तथा उसके वर्तन में भारतीय संस्कृति का सुस्वर झंकृत होता रहा है। भारत का विचारशील सन्त व्यक्तितः चाहे किसी भी सम्प्रदाय-विशेष में आबद्ध रहा हो, पर विचारों के क्षेत्र में वह लम्बी छलांग भरता आया है।

राजस्थानी सन्त यहां की बोली में बोले, जन भाषा में उन्होंने अपने विचारों की किरणों को बिखेरा। मीरा का जन्म राजस्थान में हुआ, लालन-पालन भी यहीं हुआ, उसने अपने विचारों की लड़ियां की कड़ियों को राजस्थानी जन बोली में ही गूंथा, फिर भी मीरा की उदात्त विचारधारा राजस्थान की सीमाओं को लांघ कर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक परिव्याप्त हो गई, फैल गई। राजस्थानी सन्त भले ही राजस्थान में ही रहे हों, तथापि उनकी आवाज अचल हिमाचल की बुलंदियों से लेकर कन्या कुमारी तक जा गूंजी, और राज महलों के ऊंचे सोने के शिखरों से लगा, घास-फूंस की झोंपड़ियों तक फैल गई, रम गई। यही बात गुजराती, महाराष्ट्री, और पंजाबी सन्तों के जीवन पर भी लागू पड़ती है। अतः भारतीय सन्त बंधकर भी बांधा नहीं, घिर कर भी घिरा नहीं, और रुक कर भी रुका नहीं। वह चलता ही रहा, और चलता ही चला गया, किसी ने उसे सुना तो ठीक। अन्यथा वह अपनी

मस्ती में मस्त होकर गाता रहा, और उसकी स्वर लहरी इठलाते पवन के झकोरों में प्रसार पाती रही।

भारतवर्ष का वह एक युग था, जब यहां के विद्वान् व पण्डित देव-वाणी में बोलने के नशे में चूर रहते संस्कृत भाषा में भाषण करना वे अपने वंश व कुल की निरालीशान समझते। महान् हिमालय के उत्तुँग शिखरों से वे जनता को उपदेश व आदेश देते-जनता उनकेगूढ़ शब्दों के अर्थ को न समझ कर भी श्रद्धा और भक्ति के नाम पर विनय विनम्र हो जाती। इस अन्ध विश्वास भरी परम्परा के विरोध में महावीर और बुद्ध ने अपनी आवाज बुलन्द की, जन बोली में अपने विचारों का प्रकाश फैलाया, और वे जन-जन के जीवन में एकाकार होकर जन-नेता, लोक नायक व जनता-जनार्दन बन गए।

महावीर और बुद्ध की लीक पर पीछे आने वाली सन्त सेना खूब मजबूत कदमों से चलती रही, जिससे पण्डितों के पैर उखड़ गए। सन्तों ने जनता की आध्यात्मिक नाड़ी को पकड़ा। जनता के जीवन में वे घुल-मिल गए, और जनता का सुख-दुःख उनका अपना सुख-दुःख बन गया। सन्तों की चिन्तन धारा गहरी और विराट बनी। परन्तु उनकी भाषा जन बोली रही। जनकी भाषा में वे सोचते थे और जनता की बोली में वे बोलते थे। वे विचारों के हिमालय से बोले, तब भी जनता ने समझा और आचार के महासागर के तल से बोले, तो भी

जनता ने उन्हें पहचाना। क्योंकि वे सर्व साधारण जनता की अपनी जानी पहचानी बोली में बोलते थे, न कि पण्डितों की तरह अटपटी बोली में। फलतः जनता की श्रद्धा और भक्ति की सरिता का मोड़ मुड़ा, और पण्डितों से हटकर सन्त चरणों में आ टिका, जन-जीवन की श्रद्धा और भक्ति का केन्द्र सन्त बन गया।

आचार्यप्रवर जिनदत्त सूरि जी—जिनकी आप आज यहां पर जयन्ती मना रहे हैं—भारत के उन मनीषी सन्तों में से एक थे, जिन्होंने अपने तपस्वी जीवन से और विचार पूर्ण जीवन से भारत की प्रसुप्त जनता को जागृत किया था। जन जीवन में ज्ञान की नयी चेतना, व आचार की नव स्फूर्ति भरी थी। उन्होंने अपने प्रखर विचारों का प्रचार मात्र अपनी वाणी के माध्यम से ही नहीं किया, बल्कि अपने विराट चिन्तन की पैनी लेखनी से भी जन भाषा में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ग्रन्थन व गुम्फन भी किया है। इनका जीवन एक ऐसा जीवन था—जो उत्थान के निमित्त अपने घर में भी लड़ा और अपने प्रसार के लिए बाहर भी जूझता रहा। उनकी विचारधारा से और संयमी जीवन से जन जीवन उत्प्रेरित हो—इसी भावना से उनकी जयन्ती मनाना सार्थक होता है।

भारत के महान् सन्तों का जीवन अपने ही अन्तर्बल से पनपा है, उठा है, और चला है। उन्होंने अपने विचारों का प्रचार तलवार की ताकत से नहीं, प्रेम की शक्ति से किया है। पण्डितों

ने सन्त से पूछा—"तेरा शास्त्र क्या है? उत्तर मिला—चिन्तन और मेरा विचार ही मेरा शास्त्र है। मेरा आचार ही मेरा बल और शक्ति है। जन भाषा ही मेरे शास्त्र की भाषा है। सन्त ने जो सोचा, वह शास्त्र बना, जो बोला वह विधान बना और जिधर चल पड़े, वही जन जीवन की गन्तव्य दिशा बनी। सन्त से पूछा गया—तेरा परिवार कौन है? तेरा देश कौन है? नपी तुली भाषा में उत्तर मिला। जन-जीवन ही मेरा परिवार है, मेरा समाज है। यह सम्पूर्ण संसार मेरा देश है, राष्ट्र है। आचार्य शंकर की वाणी में—"स्वदेशो भुवनत्रयम्।" यह सम्पूर्ण सृष्टि ही सन्त का स्वदेश है। सन्त की समतामयी दृष्टि में सब अपने ही हैं, पराया कौन है उसे? इतनी विराट दृष्टि लेकर चला था, भारतीय संस्कृति का सजग प्रहरी, सन्त समाज।

भारतीय संस्कृति का यह एक महान जय-घोष है, कि अतीत को भूलो मत। वर्तमान को मजबूत हाथों से पकड़ो और भविष्य की ओर तेज कदमों से बढ़े चलो। अतीत से प्रेरणा लो, वर्तमान से विचार-चिन्तन लो और भविष्य से आशा तथा विश्वास का सुनहरी सन्देश लो। हाँ, इस बात का जरा ध्यान रहे कि आपके कदम वर्तमान से अतीत में न लौटें। उनमें गति है, तो आगे की ओर बढ़े, भविष्य की ओर चलें।

आचार्य जिनदत्त सूरी जयन्ती महोत्सव } सुबोध कालेज, जयपुर १—७—५५

: २ :

बरसो मन, सावन बन बरसो

[वर्षा वास का शुभारम्भ]

आज का यह दिवस, वर्षा वास के प्रारम्भ का दिवस है। आज सान्ध्य-प्रतिक्रमण के पश्चात् सन्त जन चार मास के लिए या इस वर्ष चूंकि भादवे दो होने से पांच मास के लिए आप के इस जयपुर क्षेत्र में नियत-वास हो जाएँगे! वैसे सन्त सदा चलने-फिरने वाला पक्का घुमक्कड़ होता है। परन्तु वर्षाकाल में वह नियत-वास हो जाता है, या हो जाना पड़ता है।

एक प्रश्न है, जो अपना समाधान मांगता है। सन्त विहार को पसन्द करता है, कि स्थिर वास को! इसको

जीवन-चर्या का विधान क्या है? उसके संयत जीवन की मर्यादा क्या है? कब वर्षा-काल आए, और कब मैं एक स्थान पर स्थिर हो रहूँ? एक सच्चे साधक का यह संकल्प हो सकता है क्या? नहीं, कदापि नहीं। उसका यह संकल्प यह भावना नहीं रहती। विहार करते रहना, भ्रमण करते रहना, यही उसके मन को भाता है। ग्राम से ग्राम नगर से नगर और देश से देश परिभ्रमण करते रहना ही सन्त के महान् जीवन का साध्य-तत्व है। शास्त्र का वचन है, कि "विहार चरिया मुणीणं पसत्था।" विहार-चर्या मुनिजनों को सदा प्रिय होती है। शास्त्रों में विधान भी है, कि अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार मुनि सदा यत्र तत्र विचरण करता रहे। चर्या उसका कल्प भी है, और इसमें उसे अनेक लाभ भी हैं।'

जन जीवन के महासागर में ज्ञान-विज्ञान के पवन से मनन और मन्थन की नई लहरें, नयी तरंगें पैदा करना, विचारों के महासमुद्र में गहरी डूबकी लगा कर जन-जन के कल्याण के लिए, उत्थान के लिये प्राणवंत और ऊर्ध्ववाही चिन्तन के मोती निकाल लाना, फिर उन्हें जन जीवन के कण-कण में बिखेर देना,—सन्त जीवन का महान् कर्तव्य है। प्रसुप्त जन-जीवन को हीं जागृत नहीं करना है, बल्कि उसे स्वयं अपने जीवन में भी नव जागरण, नयी चेतना और नयी स्फूर्ति भरनी है।

पुरातन आचार्य कभी-कभी विनोद की वाणी में भी जीवन की उलझनों को बड़ी संजीदगी के साथ सुलझा कर रख देते थे। मुनि-जनों को विहार-चर्या कितनी प्रिय है? इस तथ्य को एक जैनाचार्य ने व्याकरण की भाषा में बड़े मधुर ढंग से समझाया है। वह कहता है, एक शब्द ऐसा है—"जिसके आदि में 'आ' जोड़ने से जन-जीवन के प्राणों का रक्षक बन जाता है, आदि में 'वि' लगाने से सन्तजनों को प्रिय हो जाता है, आदि में 'प्र' जोडने पर सब को अप्रिय होता है, और आदि में कुछ भी न लगाने पर वह स्त्रियों को प्रिय हो जाता है। वह जादू भरा शब्द है—'हार।' आचार्य कहता है—

आयुक्तः प्राणदो लोके,
वियुक्तः साधु-वल्लभः।
प्रयुक्तः सर्वविद्वेषी,
केवलः स्त्रीषु वल्लभः।"

आहार—भोजन सबको प्राण देता है, विहार-परिभ्रमण सन्तों को सदा प्रिय होता है, प्रहार-चोट सबको अप्रिय होती है, बुरी लगती है, और हार,-आभूषण स्त्रियों को अति प्रिय लगता है।

विहार सन्तों को कितना प्रिय होता है? इस बात का पता तो तब लगता है, जब वर्षा-वास समाप्त होने को होता है। आप लोगों में से बहुत से श्रद्धाशील व्यक्ति अपने मे ले

मन को भुलावे में डाल कर विचार करते होंगे, "कि नियत वास में तो महाराज को सुखसाता ही रहती है। रहने-सहने को सुखद स्थान, खाने पने का अच्छा अहार-पानी। फिर भी सन्तों को विहार प्रिय क्यों होता है? विहार काल में क्या सुख है? क्या सुविधा है? न खाने को पूरा भोजन, न प्यास बुझाने को पूरा पानी, न रहने को अनुकूल स्थान ही?" परन्तु मैं कहता हूँ कि भगवान् महावीर के सपूतों के सम्बन्ध में दीनतामयी यह विचारणा योग्य नहीं। सन्तों का जीवन तप, त्याग और संयम का जीवन है। प्रतिकूलता में मुस्कराना, और अनुकूलता में सावधान रहना, सन्त जीवन की सच्ची कसौटी है। परीषह व संकटों से घबराकर एक स्थान पर बैठ रहना साधुत्व का मार्ग नहीं है। निरन्तर तपते रहना, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहना—यही सन्त जीवन की शान है।

जल की स्वच्छता और निर्मलता बहते रहने में है। एक स्थान पर पड़ा खड़ा पानी गंदा व बदबूदार हो जाता है। सतत प्रवहणशीला सरिता की नव धाराओं में प्रवाहित होने वाला जल चट्टानों से लड़ता, मैदानों को पार करता, लहराता और इठलाता—नव जीवन और नयी स्फूर्ति का सन्देश देता है। उसकी शीतलता और पवित्रता बनी रहती है। किन्तु वही जल जब अपनी धारा से विछोह पाकर किसी गर्त में जा गिरता है, तब वह स्वयं तो दूषित होता ही है, अपने आस-पास के वातावरण को भी दूषित बना डालता है! मलेरिया

को जन्म देने वाले मच्छरों को पैदा करता है। पानी तो सदा बहता ही अच्छा और सन्त सदा रमता ही भला—

वहता पानी निर्मला,
पड़ा गंदिला होय।
साधू तो रमता भला,
दोष न लागे कोय॥"

पानी बहता भला और सन्त रमता भला। रमने का अर्थ है—चर्या, विहार, परिभ्रमण। क्यों कि रमते योगी को "दोष न लागे कोय।" मोह, ममता और राग द्वेष के दुर्वार विकार उसके मन को घेर नहीं सकते हैं। नियत-वास हो बैठ रहने में दोष ही दोष हैं। क्योंकि उसमें एक क्षेत्र विशेष के प्रति आसक्ति पैदा होगी। जन-जीवन का सन्त के प्रति जो सद्भाव और श्रद्धा हैं, तथा सन्त का जन-जीवन के प्रति जो प्रेम व सहयोग है,—वह मोह रूप में परिणत हो सकता है। प्रेम मोह बन सकता है, सत्संग आसंग बन सकता है, और श्रद्धा अन्धानुराग का चोगा पहन सकती है। प्रेम और मोह में सत्संग और आसंग में तथा श्रद्धा और अन्धानुराग में अन्तर है—बड़ा अन्तर है। एक कड़ी साधु और साधक के पवित्र जीवन के लिए खतरे का बिन्दु है और दूसरी कड़ी भक्त और सन्त के उत्थान में निमित्त है। जब जीवन सत्संग की सरस भूमि को छोड़ कर आसंग की कर्दम भूमि में जा टिकता है, तब लोक मानस में से "मैं और मेरे" की सर्व

आसी भेद बुद्धि जन्म लेती है और जन-जन के जीवन में ममत्व और मोह मूलक सम्प्रदायवाद तथा पन्थशाली का प्रचार व प्रसार होने लगता है। साधक को पतन के इस महागर्त से बचाने के लिए ही सन्त के लिए विहार का विधान है।

मैं अपने श्रोताओं में से पूछता हूँ, कि हमें वर्षावास करना पड़ता है, या करना चाहते हैं। श्रोताओं में से एक ने कहा—करना पड़ता है, चाह नहीं है, करने की। हाँ, ठीक है, आप ने उत्तर देने में गहरी डूबकी लगा ली है। मैं समझता हूँ, कि मेरे श्रोता सूने मन के नहीं हैं। उनका मननशील मन विचार सागर की तरंगों में तरंगित है। कभी-कभी श्रोता ठीक निशाने की बात कह जाते हैं। श्रवण करके मनन करना श्रोताओं का धर्म है, कर्तव्य है। तभी वे गहरी डूबकी लगा सकते हैं।

मैं आप से कह रहा था कि वर्षा-काल में हमें एक क्षेत्र में स्थिर हो बैठना पड़ता है। क्योंकि वर्षा बरसने से सारी धरती हरी भरी हो जाती है। वनस्पति काय की अभिवृद्धि और त्रस जीवों की उत्पत्ति के कारण वर्षाकाल की विहार-चर्या में यतना और विवेक से गमन करने पर भी सन्त जन जीवों की दया का पूरे रूप में पालन नहीं कर पाते, नहीं कर सकते। अतः सन्त अपने कल्प के अनुसार, विधान के अनुरूप वर्षाकाल में चार मास का वर्षावास करता है, जिसे

आप अपनी जन-बोली में चातुर्मास कहा करते हैं, चौमासा कहा करते हैं। द्वादश प्रकार के तपों में एक तप है,—'प्रति संलीनता।' अर्थात् जीवों की अनुकम्पा और दया के निमित्त अपने आपको समेट कर रखना। अपनी बाहरी क्रियाओं को शरीर की हल-चल को सीमित और नियमित कर लेना। इसी को क्षेत्र सन्यास भी कहते हैं। इस दृष्टि से सन्त जीवन में विहार-चर्या यह भी एक तप है और वर्षाकाल में स्थिर हो बैठना यह भी एक तप है। साधुत्व का सम्पूर्ण जीवन ही तपोमय है।

मैं अभी आप से वर्षा काल के विषय में कह रहा था। वर्षा कब होती है ? यह आपको पता ही है। पहले आता है, भीष्म ग्रीष्म, आतप और प्रचण्ड धूप। आकाश तपने लगता है, और धरती आग उगलने लगती है। सम्पूर्ण सृष्टि अग्निमय हो जाती है। तपतपाते जेठ मास की लुओं से न केवल मनुष्य, पशु, और पक्षी ही, बल्कि पहाड़ तथा मैदान भी झुलस-झुलस जाते हैं। प्रकृति के कण-कण में बिखरी उस आग को शान्त करने के लिये मनुष्य अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। अपने मकानों पर दूकानों पर और बाजारों में पानी छिड़क-छिड़क कर उस को शांत करता है। किन्तु उसका यह प्रयत्न उतना ही निःसार है, जैसा कि महाग्नि काण्ड को बुझाने के लिये दो चार पानी छींटे डाल कर बैठ जाना, और समझ लेना, कि अब अग्निकाण्ड शान्त हो गया है यह

असीम कार्य मनुष्य की ससीम शक्ति से भला कहाँ हो सकता है ? कैसे हो सकता है ? यह महाशक्ति तो उस महामेघ में ही है जो घहर-घहर कर आकाश पर छा जाता है, और छहर-छहर कर धरती पर बरस पड़ता है। आकाश के विराट प्रांगण में घुमड़-घुमड़ कर उठ खड़ी होने वाली काली-पीली घनघोर घटाएँ जब हजार-हजार धाराओं में धरती से मिल भेंट करती हैं, तब कहीं धरती की तपन बुझती है। मनुष्य पशु और पक्षियों को सुख और शान्ति मिल पाती है। आकाश में शीत पवन लहरें मारने लगता है। धरातल के महागर्भ में से हजारों हजार रूपों में हरियाली फूट निकलती है। सर्वत्र सुख, शांति और समृद्धि का सुखद प्रसार होने लगता है। वन हरे-भरे हो जाते हैं। पहाड़ भरे पूरे दीखने लगते हैं। चारों ओर हरियाली छा जाती है।

मानव का मन भी अपने आप में एक विराट विश्व है। उसमें भी विषय और कषाय की आग धू-धू कर जलती है। काम, क्रोध, लोभ और मान की प्रदग्ध कर देने वाली गरम लू चलती रहती है। माया और छलना के अँधड़ व तूफान उठते रहते हैं। मन को अशान्त, असंयत और अप्रसन्न बनाये रखते हैं। विकृत मन शान्ति, संतोष व सुख का अनुभव नहीं कर पाता। मानव मन संस्कृत तब बनता है, जब उसमें प्रेम और सद्भाव का महामेघ स्नेह की वर्षा करने लगता है। उस समय मानव के अन्तर्जगत में अहिंसा

मैत्री और करुणा की कोमल हरियाली फूट पड़ती है। स्नेह, सद्भाव और सहयोग का मन्द सुन्दर समीर प्रवाहित होने लगता है। मानव मन की विकृत भूमि संस्कृत बन जाती है, कठोर धरती मृदु बन जाती है। जिसमें अणुव्रतों के सुरम्य बीज सुगमता से पनपते हैं। स्नेह, सद्भाव, सहयोग, और सहकार के प्रयोग से चित्त में एक प्रकार का आनन्द, उल्लास और प्रमोद बढ़ता है, जिससे मानव, मानव के प्रति विश्वास करना सीखता है।

एक सन्त का सरस कवि मानस मधुर स्वर में गा उठा था—"बरसो मन, सावन बन बरसो।" मेरे मन! तुम बरसो। सावन बनकर बरसो। मूसलाधार बरसो। रिम-झिम होकर बरसो। धीरे बरसो, वेग से बरसो। बरसो, बरसते ही रहो—रुको मत। अहिंसा, समता और सत्य का नीर बहा दो। स्नेह और सद्भाव का मस्त पवन बहने दो। संयम और वैराग्य की मृदु हिलोरें उठने दो। मेरे मन! तुम सावन बनकर बरस पड़ो। मेरे जीवन के अणु-अणु में, कण-कण में बरसो। और कहां बरसोगे तुम! बरसो, खूब बरसो—परिवार में, समाज में, और राष्ट्र में। आज के जन-जन के जीवन में, संघर्ष, विग्रह और कलह की जो सर्वग्रासी भयंकर आग जल रही है, उसे शान्त करने के लिए मेरे मन! तुम सावन के सुहावने, कारे-कजरारे मेघ बन कर घुमड़-घुमड़ कर बरस पड़ो। इतना बरसो, कि तुम्हारे वेगवान् नीर के प्रवाह में-व्यक्ति समाज

और राष्ट्र की अशान्ति, अविश्वास और असहयोग की कलुषित भावनाएँ बह-बहकर सुदूर विस्मृतिमहासागर में लीन हो जाएँ, जिस से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सुखद जीवन व्यतीत कर सकें। मानव का अशान्त और भ्रान्त मन जब सरस सुहावना, सावन बनकर बरसना सीख लेगा, तब वह अपने मनोगत जात-पांत के टंटों को, ऊँच-नीच के रगड़ों को और मान-महत्ता के झगड़ों को भूल कर एकता, संघटन और सम-भाव के सुन्दर वातावरण में पनप सकेगा, ऊँचा उठ सकेगा, अपना उत्थान और कल्याण कर सकेगा।

सोजत सन्त-सम्मेलन के कार्य-क्रम में, मैं जब व्यस्त था। एक सज्जन आकर बोला—"महाराज, आप अपनी समस्याओं के सुलझाने में ही मस्त रहोगे, या कुछ हम लोगों की भी उलझी उलझनों को भी सुलझाने का समय दे सकोगे? सज्जन का स्वर करुणा पूर्ण था। मैंने उसकी बात में दिलचस्पी लेते हुए कहा—"कहो तुम्हारी क्या समस्याएँ हैं?" उसने कहा—"वैसे तो समस्या कुछ भी नहीं, और है, तो बहुत बड़ी भी? "सुनेंगे, तो आपको ताज्जुब भी होगा, और हँसी भी आयगी, कि क्या ये भी अपने को भगवान् महावीर का भक्त कहते हैं? श्रावक कहलाते हैं? बात उसने यों प्रारम्भ की—" हमारे यहाँ दो जी का झगड़ा खड़ा होगया है। बरसों होगए हैं, अभी तक निब-टने में नहीं आया।" मैं नहीं समझ पाया, उसकी संकेतमयी भाषा से कि यह 'दो जी' क्या बला है? कम से कम मेरे जीवन में

तो यह एक नयी समस्या ही थी। उस सज्जन ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा —" हमारे यहाँ के ओसवाल दो थोकों में बँटे हैं —" एक व्यापारी और दूसरे राज-कर्मचारी। "राज-कर्मचारी सत्ता प्राप्त होने से अपने नाम में 'दो जी' का प्रयोग करते थे—"जैसे भंडारी जी, मोहनलाल जी।" एक 'जी' गोत्र के आगे, और दूसरी नाम के आगे। परन्तु, व्यापारी लोग एक ही 'जी' लगा सकते थे। पर यह उन्हें शल्य की तरह चुभता था। कालान्तर में राजा साहब से पट्टा लेकर व्यापारी भी 'दो जी' लगाने लगे। बस, रगड़े-झगड़े का मूल बीज यही है। अनेक प्रयत्न भी किए, और कर रहे हैं, परन्तु अभी तक समस्या सुलझी नहीं है। बिरादरी दो टुकड़ों में बंटी हुई है। इसी कारण धर्म और समाज का कोई भी उत्थान का कार्य हम नहीं कर पाते हैं।

इस सज्जन की बात में कितना दर्द था? कितना था, उस के दिल में तूफान? मैं समझता हूँ, कि इन रगड़ों का, झगड़ों का, टंटों का और समस्याओं का अन्त तभी होगा, जब मानव का मन क्षुद्र घेरों से ऊपर उठकर विराट भावना के प्रवाह में गतिशील बनेगा। अपनी सुख-समृद्धि में फूलेगा नहीं, और दूसरों के विकास में झुलसेगा नहीं। गए-बीते युग की इन गली-सड़ी दीवारों से ऊपर उठकर जब मानव स्नेह स भाव और सहकार की मृदुल भावनाओं से उत्प्रेरित होकर अपने मन को विराट और उदात्त बना लेगा। अपनी बुद्धि के द्वारा

को नये विचारों के प्रकाश के लिए खुला रखेगा और अपने मानस के सरस भाव-कणों को जन-जन में बिखेर देगा, तब वह सुखी, समृद्ध और बलवान बनता चला जाएगा।

वर्षा काल सरसता और मधुरता का महान् सन्देश-वाहक है। इस सुहावनी ऋतु में जैसे बहिर्जगत् में सरसता, सुन्दरता और मधुरता का अभिवर्षण होता रहता है, वैसे ही मानव के अन्तर जगत में भी स्नेह की सरसता का, सद्भाव की मधुरता का और सहकार की सुन्दरता का अजस्र अमृतमय अभिवर्षण तभी सम्भव है, जब वह अपनी मनो-भूमि में से अर्थ-हीन, शुष्क और निर्जीव विधि-निषेधों के तूफान और अन्धडों को शान्ति, समता तथा विवेक-बल से बाहर निकाल फेंकने में समर्थ हो सकेगा तभी वह युग-युग से सूखी अपनी जीवन घाटियों में मन की सरस और सुखद बरसात बरसा सकेगा।

लाल भवन, जयपुर } ४-७-५५

: ३ :

मानव मन का नाग पास : अहंकार

मानव जब बड़प्पन के पहाड़ की ऊँची चोटी पर चढ़ कर अपने आस पास के दूसरे मानवों को तुच्छ व हीन मानने लगता है, तब उसकी इस अन्तर की वृत्ति को शास्त्र भाषा में अहंकार, अभिमान और दर्प कहते हैं। अहंत्ववादी मानव परिवार में समाज में और राष्ट्र में अपने से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति को महत्व नहीं देता। दर्प-सर्प से दष्ट व्यक्ति कभी-कभी अपनी शक्ति को बिना तोले, बिना नापे कार्य करने की धृष्टता करता है। परन्तु अन्त में असफलता का ही मुख देखता है। क्योंकि उसके अन्तर मन में अधिकार-लिप्सा और महत्वाकांक्षा की वृत्ति इतनी प्रबलतम हो उठती है, कि वह दूसरे के सहयोग

तथा सहकार का अनादर भी कर डालता है। मनुष्य जब अहंकार के नशे में चूर-चूर रहता है, तब उसका दिल व दिमाग अपने काबू में नहीं रह पाता। अहंकारी मानव के जीवन की यह कितनी विकट विडम्बना है?

मनुष्य अपने शरीर की बड़ी से बड़ी चोट को बरदाश्त कर जाता है, किन्तु वह अपने अन्तर मन के गहरे कोने में पड़े अहंत्व पर कोमल कुसुम के आघात को भी सह नहीं सकता। मनुष्य का यह अहंत्वभाव उसके जीवन के अनेक प्रसंगों पर अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता रहता है। मानव के मनका अभिमान एक चतुर चालक बहुरूपिया के तुल्य है। बहुरूपिया एक ही दिवस में अनेक बार अनेक रूपों को बदल बदल कर बाजार में आता है, और हजारों हजार जन-नयनों को धोका दे, भागजाता है। मानव मन के अन्तराल में छुपा अहत्व भाव भी मानव की चेतनाको धोका देता है, छलना और माया करता है। जन मंच पर कभी वह क्रूर बन कर उपस्थित होता है, कभी दया-प्रवण होकर प्रस्तुत होता है। कभी वह शत्रु बन बैठता है, और कभी वह अपने स्वार्थ के अतिरेक की पूर्ति के लिए परम मित्र के रूप में प्रकट होता है! यों वह अपने आपे में एक होकर भी अनेक रूप-रूपाय है। अणु होकर भी महान है, लघु होकर भी विराट है।

मनुष्य के अभिमान-केन्द्र अनेक हैं. जिनमें शरीर पहला है। मनुष्य अपने शरीर के सौंदर्य पर, रूप-लावण्य पर और

रंग रूप पर फूला नहीं समाता। वह भूल जाता है कि यह रूप-विलास संसार सागर का अस्थिर जल बुद्‌-बुद है' सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने अपार रूप वैभव पर कितना गर्वित था? स्वर्ग-वासी देव और देवों का राजा इन्द्र भी उसके रूप सौंदर्य पर मुग्ध था। रूप और सौन्दर्य अपने आप में बुरा नहीं, बुरा है, रूप का मद, सौंदर्य का अहंकार। सनत्कुमार ने अपने जीवन काल में ही अपने सौंदर्य कुसुम को खिलते और महकते देखा—और देखा उसे मुरझाते व सड़ते। जीवन और जगत की वह कौन वस्तु है, जिस पर मनुष्य स्थिरता का अभिमान टिका सके।

रूप सौंदर्य की तरह मनुष्य अपने नाम को भी अजर-अमर देखना चाहता है। नाम की लालसा मनुष्य को अशांत रखती है। नाम के लिए, यशःकीर्ति के लिए, और ख्याति के लिए मनुष्य अपने कर्तव्य और अकर्तव्य की भी मर्यादा-रेखा का उल्लंघन करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता है।

इस सम्बंध में मैं आपको जैन इतिहास की एक सुंदर कहानी सुनाता हूँ! भारतवर्ष का सर्व प्रथम महान् सम्राट् भरत दिग्‌विजय करता करता ऋषभकूट पर्वत पर पहुंचता है, और वहाँ के विशाल शैल शिला-पट्टों पर अपना नाम, अपना परिचय अंकित करने की प्रबल लालसा उसके मानस में जाग उठी। जरा गौर से देखा, तो मालूम पड़ा कि, यहाँ परिचय तो क्या? 'भरत' इन तीन अक्षरों को बैठाने की भी जगह नहीं। हजारों और लाखों चक्रवर्तियों ने अपना-अपना नाम जड़ा है—इन शिला-पट्टों पर।

सोचा-"किसी का नाम मिटाकर अपना नाम टांक दूँ।" ज्योंही भरत का हाथ उठा, किसी का एक नाम मिटा और अपना 'भरत' नाम उत्कीर्ण हुआ, त्योंही भरत के हृदय गगन में विवेक-बुद्धि की बिजली कौंधी-जिस के ज्ञान प्रकाश में भरत ने पढ़ा—"आज तू ने किसी का नाम मिटाया है, कल कोई तेरा भी नाम मिटाने वाला पैदा होगा।" भरत की अन्तर चेतना जागी और विचार किया-यह अहंत्व-भाव की मोह मादकता, बड़ी बुरी बला है। भरत, इस विश्व के विराट पट पर किसका नाम अमर व अमिट रहा है?"

धन का अहंकार भी मानव के मन को जकड़ता है, बांधता है। मानवी मन जब असन्तोष की लम्बी सड़क पर दौड़ता है, तब हजार से लाख, लाख से करोड़ और फिर आगे अर्ब-खर्ब के स्टैण्ड पर भी वह ठहर नहीं पाता। धन का नशा, सब नशों में भयंकर नशा है। धर्म चेतावनी देता है-"धन भले रखो, पर धन का नशा मत रखो।" रावण की लंका और यादवों की द्वारिका-सोने की होकर भी खाक की होगई। रावण का अभिमान और यादवों का धन मद-उन्हें वासना के महासागर में ले डूबा।

हिन्दी साहित्य का अमर कवि बिहारीलाल आप के राजस्थान का ही था, जिस ने एक वार आपके आमेर नरेश मानसिंह की नारी आसक्ति पर-"अली कलि ही सौं बिन्ध्यौ,

आगे कौन हवाल—" कह कर करारी चोट मारी थी। वही महाकवि बिहारीलाल मानव मन में प्रसुप्त धन-लालसा पर जोर दार फबती कसता कहता है—

"कनक कनकतें सौ गुनी,
मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात है,
वा पाये बौरात ॥"

कनक का अर्थ सोना भी होता है, और धतूरा भी। धतूरे को खाकर उसके नशे में मनुष्य बौराने लगे, बड़-बड़ाने लगे, तो इस में ताज्जुब की कोई बात नहीं। आश्चर्य की बात तो यह है, कि मनुष्य, धन के हाथ में आते ही बौराने लगता है बड़-बड़ाने लगता है। कवि कहता है—"धतूरे की अपेक्षा सोने का नशा, धन का मद, भयंकर है, अधिक घातक है। धन का अभिमान मानव जीवन के लिए एक अभिशाप है।

मनुष्य का अभिमान इतना विराट बन गया है, कि वह भौतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा, वल्कि जन-जीवन के आध्यात्मिक पावन-पारावार में भी उसने अपनी कालिमा घोल दी है। सत्कर्म व धर्म-क्षेत्र में भी मानव के मन के अभिमान ने तूफान वरपा कर दिया है। किसी को दान दें, तब अभिमान। सामायिक-संवर करें, तब अहंकार। त्याग-तपस्या करें, तब दर्प। मैंने इतना दिया, मैंने इतना किया। धर्म के

परम पावन क्षेत्र में भी मनुष्य के अन्तर में स्थित दर्प का सर्प फुत्कार कर उठता है। सम्भव है, धन का अहंकार आत्मा को उतना न गला सके, किन्तु यह जो सत्कर्मों का, धर्म के क्षेत्र का, अहंकार है, वह अधिक नाशक है और यह आत्मा को गला देने वाला है। अहंकार कैसा भी क्यों न हो ? उससे आत्मा का पतन ही होता है, उत्थान नहीं। विष तो विष ही रहेगा, अमृत नहीं हो सकता। महाबली बाहुबली कितना घोर तपस्वी था, परन्तु अहंकार के संस्कारों ने केवल-ज्ञान की ज्योति प्रकट नहीं होने दी।

शास्त्र में वर्णित अष्ट-मदों में कुल, जाति, ज्ञान, आदि मद भी परिगणित हो जाते हैं, जिन्हें लोक भाषा में अहंकार, अभिमान और दर्प कहा-सुना जाता है। आठों ही प्रकार का मद मानव के आध्यात्मिक सद्गुणों का विनाशक है, घातक है।

मानव के मन में विराट शक्ति और अपार बल है, परन्तु अहंकार के नाग-पाश में जकड़ा हुआ वह—महाबली हनुमान की तरह अपनी अमित-शक्ति और अतुल-बल को भूल बैठा है। अहंकार की घनी काली तमिस्रा में वह अपने अध्यात्म-सूर्य की चमकती किरणों को देख नहीं पा रहा है। जिस दिन मनुष्य के अहंत्व-भाव का नाग-पाश टूटेगा—तब वह लघु से महान् बनेगा, क्षुद्र से विराट बनेगा—इसमें जरा भी शंका नहीं, सन्देह नहीं है।

लाल भवन, जयपुर } १३-८-५५

: ४ :

यो वै भूमा तत्सुखम्

आज के जन जीवन में पग-पग पर विकट संकट और विषम समस्याओं का तूफान व अंधड़ प्रबल-वेग से चल रहा है। आज के इस अणु-युग का मानव सत्ता और महत्ता के हिम-गिरि के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर भी शान्ति, सुख और सन्तोष की सुखद साँस नहीं ले पा रहा है। आज के जीवन और जगत के क्षितिज पर अशान्ति और असन्तोष का घना कुहरा छाता चला जा रहा है—जिसमें मानव मानव को देख नहीं पा रहा है। अधिक स्पष्ट कहूँ, तो वह अपने आपको भी पूरे रूप में देख नहीं पा रहा है। देखने का प्रयत्न भी नहीं कर रहा है।

आज का यह विराट विश्व सुख और शान्ति के मधुर और सुन्दर नारे लगा कर भी उस सुख और शान्ति को पकड़ क्यों नहीं पा रहा है? आज की मानुषी-मनीषा से युग इस महाप्रश्न का समाधान मांग रहा है? विचार-महासागर के अन्तस्तल का संस्पर्श करते चलें, तो मालूम होगा कि यह महा प्रश्न आज का ही नहीं, सनातन संसार के सदाकाल से यह अपना समाधान माँगता रहा है।

हम देखते हैं कि इस जगती-तल के जीव कभी सुख के और कभी दुःख के झूले पर निरन्तर झूलते रहते हैं। मानव जीवन के गगन-तल पर सुख-दुःख के बादल स्थिर होकर नहीं बैठते। धूप-छांह की तरह उड़ते फिरते हैं। कभी सुख है. तो कभी दुःख है। आज सुख है, तो कल दुःख है। आज शान्ति के मधुर क्षणों में झूम रहा है, तो कल अशान्ति की विषम ज्वालाओं में झुलस रहा है। मानव की चाह है, कि उसके जीवन पट में दुःख, दैन्य और दरिद्रता के काले धागे न हों, हों केवल सुख, शान्ति और समृद्धि के सुनहरी धागे। सम्पूर्ण जीवन-वस्त्र सुख और समृद्धि के ताने-बाने से बुना हो।

भारतीय दर्शन शास्त्र में सुख-दुःख की सूक्ष्म मीमांसा की गई है। परन्तु एक वाक्य में उसे यों कहा जा सकता है— "अनुकूलता सुख है और प्रतिकूलता दुःख।" भारतीय दर्शन की विचार परम्परा इस तथ्य में अमित, अमिट व अडिग विश्वास लेकर चली है कि इस आदिहीन और अन्तहीन अनन्त जगत में जहाँ दुःख और दुःख के कारण बिखरे पड़े हैं,

वहाँ सुख और सुख के उपकरण भी प्रस्तुत हैं। भारत के जीवनशास्त्री इस सत्य तथ्य की स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा करते हैं—"मानव अपने जीवन के जिन पुण्य पलों में दुःख और दुःख के कारणों से विमुख हो, सुख और सुख के कारणों को अपना लेगा, तब वह जीवन में सुख, शान्ति और सन्तोष का अनुभव कर सकेगा। उसका जीवन शान्त और समृद्ध बन सकेगा, जीवन में सरसता, मधुरता और समरसता का आनन्द ले सकेगा।

भारतीय विचार-धारा मूल में एक होकर भी हजारों हजार धाराओं में प्रवाहित होकर अन्त में एक ही महासागर में विलीन हो जाती है। जीवन के संलक्ष्य के सम्बन्ध में मतभेद नहीं। विचार भेद है, केवल साधना के उपकरणों में। साधकों का ध्येय एक है, परन्तु हर साधक अपनी राह अपनी शक्ति को तोल कर ही बनाता है। "दुःख है और उससे छुटकारा पाना है।" यह भारतीय दर्शन शास्त्र का मूल महास्वर है। दुःखों से मुक्ति कैसे पाना—यह एक प्रश्न उलझन का अवश्य रहा है—फिर भी मैं कहता हूँ कि इस विचार चर्चा की गहराई में जब आप उतरेंगे, तब इसमें भी आपको समन्वय मिल सकेगा। जैन दर्शन जीवन के हर क्षेत्र में अनेकान्त और समन्वय को लेकर चला है।

उपनिषद्-काल के एक ऋषि से पूछा गया—"भगवान्! इस समूचे संसार में दुःख ही दुःख है, या कहीं सुख भी? यदि सुख

भी है, तो वह कैसे मिले ? ऋषि ने शान्त और मधुर स्वर में कहा—सुख भी है, शान्ति भी है, आनन्द भी है। "यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुख मस्ति। "जीवन में सुख अवश्य है, किन्तु वह एकत्व में नहीं, समग्रत्व में सन्निहित है। जो भूमा है, जो विराट है, जो महान है और जो जन-जीवन में समग्रत्व है, वह सुख है। वह शान्ति है, वह आनन्द है। परन्तु, याद रखो, सुख की निधि समग्रत्व में है, अपनत्व में नहीं। जहाँ मन का दायरा छोटा है, वहाँ सुख नहीं है। वहाँ है—दीनता, दरिद्रता और दुःख। मानव की विराट भावना में सुख है, और उसके क्षुद्र विचारों में दुःख-दैन्य है।

मानवतावादी विराट भावना में विभोर होकर एक ऋषि कहता है—"यथा विश्वं भवत्येक नीडम्।" सारा संसार और यह विराट लोक क्या है ? यह एक घोंसला है। समूचा संसार एक घोंसला है, और हम सब पक्षी हैं। इस नीड में अलग अलग दीवार नहीं, हदबन्दी नहीं, बाड़ाबन्दी नहीं। जिसका जहाँ जी चाहे—बैठे और चहके। इतनी विराट भावना, इतना विशाल मानस, जिस समाज को और जिस देश को मिला हो—वही सुख, शान्ति और आनन्द के झूले पर झूल सकता है। सुख का अक्षय भण्डार मानव-समग्रत्व की चेतना की जागृति में है। यह समाज और यह राष्ट्र क्या है ? यह भी एक नीड है, एक घोंसला है, जिसमें सब मानव पक्षी मिल जुल कर रहते हैं। ऋषि की भाषा में यही सुख का सही रास्ता

है। भगवान महावीर ने कहा—"संचय मत करो, संग्रह मत करो।" जो पाया है, उसे समेट कर मत बैठो। संविभाग जीवन में सुख की कुंजी है।

जन जागरण और जन जीवन की चेतना के अग्रदूत भगवान् महावीर ने कहा है—"सुख और दुःख कहीं बाहर नहीं हैं, वे तो मानव के मन की अन्तर पड़त में लुके-छुपे रहते हैं।" जब मानवत्व की विराट चेतना "मैं और मेरा" के घेरे में बन्द हो जाती है, मानव का विराट मन "मैं और मेरा" के तंग दायरे में जकड़ जाता है, तब संकटों के काँटे मानव के चारों ओर बिखर जाते हैं, जिन में वह जाने-अनजाने पल-पल में उलझता रहता है। यह मैं हूँ, यह मेरा है, मैं स्वामी हूँ और सब मेरे दास हैं। यह दानवी भावना ही अन्तर में दुःखों को पैदा करती है। जहाँ मैं और मेरे का आसुरी राग-महा भीम-स्वर में अलापा जा रहा हो, वहाँ मानव मन प्रसुप्त देवत्व को जगाने वाला और जन-जन के मनको झंकृत करने वाला सर्वोदयवादी मधुर मन्द संगीत कौन सुने ? फिर वहाँ सुख, शान्ति और सन्तोष का सागर कैसे लहरा सकता है ? मानव के मन में स्वार्थ के अतिरेक की जब गहरी रेखा अंकित हो जाती है, तब उसकी दृष्टि में यह सारा संसार दो विभागों में विभक्त होने लगता है—"एक स्व और दूसरा पर, एक अपना, दूसरा बेगाना, एक घर का दूसरा बाहर का यह वर्गीकरण ही हमारे मन की तंग दिली का सबूत पेश करता है। मानव के

विराट एकत्व को विभक्त करने वाली इस भेद-भूमि में से ही द्वेष घृणा और हिंसा को जन्म मिलता है। मानव का सोता हुआ दानत्व जाग उठता है, आसुरी भावना प्रबल हो जाती है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—"जीवन में पाप कर्म क्या है ? और उससे छुटकारा कैसे मिले ? इस जीवन-स्पर्शी प्रश्न के उत्तर में उस विराट सदात्मा ने, जन जीवन के प्रवीण पारखीने कहा—

"सव्व भूयप्प भूयस्स,
सम्मंभूयाइ पासओ।
पिहियासव्वस्स दंतस्स,
पाव कम्मं न बन्धइ ॥"

सम्पूर्ण संसार की आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य समझने वाला, कभी पाप कर्म से लिप्त नहीं होता। जैसा दुःख और जैसा कष्ट तुझे होता है, समझले, वैसा ही सब को होता है। जीवन और जगत अपने आप में न पाप रूप हैं, न पुण्य रूप। मानव के मन की संकीर्णता और क्षुद्रता ही पाप है, और विराटता, महानता ही पुण्य है। मन भला तो जग भला। मन में पाप है, तो जीवन और जगत में भी पाप है—हमारे मनकी तरंगों से ही तरंगित होता है—जीवन और जगत का सम्पूर्ण संव्यवहार।

राजा भोज की राज सभा में, एक विद्वान आया, जो दूर देश का रहने वाला था। अपने जीवन की दरिद्रता के अभिशाप को राजा के पुण्यमय वरदान से प्रक्षालित करने के संकल्प को लेकर वह यहाँ आया था। द्वारपालने विद्वान के आने की सूचना राजा को दी, और राजा भोज ने कहा—"विद्वान को अतिथि गृह में ठहरा दो।

राजा भोज विद्वानों का बड़ा आदर-सत्कार करता था। और उन्हें मुक्त हाथों से दान भी किया करता था। आनेवाला विद्वान विचारों की कितनी गहराई में है ? यह जानने के लिए राजा ने अपने एक विश्वास-पात्र विद्वान के हाथों दूध से लबालब भरा कटोरा भेजा। जब वह पात्र लेकर पहुंचा, तो विद्वान प्रसन्न मुद्रा में बैठा कुछ लिख रहा था। दूध से भरे-पूरे कटोरे को देख कर विद्वान ने उस में एक बताशा डाल दिया और कहा—आप इसे वापिस राजा की सेवा में ले जाएँ। समय पाकर राजा ने विद्वान को राज सभा में बुलाया—और पूछा—"आप ने दूध क्यों लौटा दिया ?" और उस में फिर बताशा क्यों डाला ? इसका स्पष्टीकरण कीजिए—

विद्वान ने राजा भोज से विनय विनम्र स्वर में कहा—"राजन्, आपका आशय यह था, कि जैसे दूध से कटोरा लबालब है, वैसे मेरी सभा भी विद्वानों से भरी है—यहाँ पर जरा भी स्थान नहीं। भोज ने इस सत्य को स्वीकृत किया और फिर

बताशा डालने का अर्थ पूछा ? आने वाले विद्वान ने कहा—राजन ! इसका अर्थ था, कि दूध भरे कटोरे में जैसे बताशा अपना स्थान बना लेता है, वैसे मैं भी आपकी सभा में अपने आप स्थान पालूँगा। आप किसी प्रकार की चिन्ता में न पड़ें। जगह नहीं होने पर भी जगह बनाना मेरा अपना काम है। राजन्, आप की सभा में भले स्थान न हो, परन्तु आपके मन में स्थान होना चाहिए। यदि आपके मन में स्थान है, तो फिर क्या कमी है ? बताशा दूध के कण-कण में रम कर मिठास भर देता है। मैं भी प्रेम की मिठास आपके मन में और आप की सभा के सभासदों के मन में अर्पित कर आपकी गौरव गरिमा को और अधिक महिमान्वित करूँगा, फिर स्थान की क्या कमी है ?

मानव मन जब अपनत्व में बँधकर चलता है, तब जगह होने पर भी जगह नहीं दे पाता। मानव तंग दिली के दायरे में अपने कर्तव्य और अकर्तव्य को भी भूल बैठता है। मैं और मेरा की क्षुद्र भावना मनुष्य का कितना पतन करती है ? मैं आप से कह रहा था, कि संसार में जितने भी दुःख व कष्ट हैं, वे सब पराये पन पर खड़े हुए हैं, और बेगानेपन पर ही पनपते हैं। इस हालत में सुख और शान्ति के मधुर नारे लगाने पर भी वह कैसे मिलेगी ?

एक बार की बात है। हम विहार करते करते एक अपरिचित गांव में जा पहुँचे। गांव छोटा था। एक मन्दिर के अलावा

ठहरने को दूसरी कोई जगह नहीं थी। सन्त मन्दिर के महन्त के पास पहुंचे, स्थान की याचना की। मन्दिर का महन्त इन्कार हो गया। मैं स्वयं वहाँ गया। महन्त अपने मन्दिर के द्वार पर खड़ा था। बात-चीत चली और मैंने भी रात भर ठहरने को स्थान मांगा। टालू नीति का आश्रय लेते हुए उसने कहा यहाँ पर कोई जगह नहीं है। मैंने कहा आप के मन्दिर में जगह नहीं है, तो न सही। आप के मन में तो जगह है न। उसने मुस्करा कर कहा" मन में तो बहुत जगह है। मैंने कहा—यदि मन में जगह है, तब तो आप के इस मन्दिर में भी जगह हो जायेगी। मनो मन्दिर में जिसे जगह मिल जाती है उसे फिर इस ईंट पत्थर के मन्दिर में जगह क्यों नहीं मिलेगी। अन्त में महन्त ने प्रसन्न भाव से मंदिर में ठहरने की जगह दे दी। वहाँ ठहरे, परिचय हुआ। अब तो ज्यों-ज्यों मन की घुंडी खुली, महंत ने अपना निजी कमरा भी खोल दिया। मैंने परिहास की भाषा में पूछा पहले तो साधारण स्थान भी नहीं था, इस मंदिर में! और अब आपने अपने सोने बैठने का कमरा भी खोल दिया है। वह भी हँसा और बोला आप तो कह रहे थे, कि मन में जगह चाहिए। मनोमन्दिर में जगह होने से इस मंदिर में भी जगह हो गई है।

हाँ तो मैं आप से कह रहा था कि सब से बड़ी बात मन की होती है। मन विराट तो विश्व भी विराट, मन छोटा तो दुनियाँ भी छोटी है, तंग है। पहले महन्त के मन में जगह

नहीं थी, एक कोठरी भी मिलना कठिन हो गया था, और मन में जगह होते ही बढ़िया कमरा भी तैयार। जीवन और जगत का सारा संव्यवहार मानव के मन की विराटता पर चलता है और मानव के मन की तंग दिली पर अटकता है। मनकी अटक ही सारे दुःखों की खटक है। जब मनुष्य "मैं और मेरे" के तंग घेरे में बंद हो जाता है, तब वह सुख शांति और आनंद प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। परंतु जब उस के मन में विराट भावना जाग उठती है तब वह अल्प साधनों में भी संतोष के द्वारा सुख लाभ पा लेता है। वह अपनत्व के संकीर्ण घेरे में से निकलकर परिवार समाज, राष्ट्र और उस से भी बढ़ कर विराट विश्व में फैल जाता है। इस स्थिती में पहुंचकर मानव का जागृत मन अपनत्व में समत्व का दर्शन करने लगता है। समग्रत्व के इसी महासागर की तल छट में से मनुष्य ने सुख, संतोष, शांति और समृद्धि अधिगत करने की अमर कला सीखी है।

लाल भवन, जयपुर } १७-७-५५

: ५ :

मानव की विराट चेतना

शास्त्रों में और नीति ग्रन्थों में मनुष्य जीवन को सर्व श्रेष्ट और सर्व ज्येष्ठ कहा है। इतना ही नहीं, मनुष्य को भगवान ने अपनी वाणी में देवताओं का प्यारा कहा है। विचार होता है, कि मनुष्य जीवन की इस श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का मूल आधार क्या है? सत्ता, महत्ता और वित्त–क्या इन भौतिक उपकरणों की विपुलता के आधार पर मनुष्य-जीवन की महिमा वर्णित है? मैं कहता हूँ नहीं, कदापि नहीं। ऐसा होता तो संसार के इतिहास में रावण, कंश और दुर्योधन मनुष्यों की पंक्ति में सर्व प्रथम गण्य-मान्य होते? परन्तु दुनियां उन्हें

मनुष्य न कह कर राक्षस और पिशाच कहती है। उस युग के इन तानाशाहों के पास सत्ता-महत्ता और वित्त की क्या कमी थी? वित्त और भव-वैभव के उनके पास अम्बार लगे थे फिर भी वे सच्चे अर्थों में मनुष्य नहीं थे, और यही कारण कि उनका मनुष्य जीवन श्रेष्ठता और ज्येष्ठता की श्रेणी नहीं आता।

मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का मूल आधार है—त्याग, वैराग्य और तपस्या। यदि जीवन में त्याग का चमक, तपस्या की दमक और वैराग्य की समुज्ज्वलता है तो निःसन्देह वह जीवन अपने आप में एक तेजस्वी व मनस्वी जीवन है। हर इन्सान को अपने अन्दर झांक कर देखना चाहिए कि उसके हृदय में सहिष्णुता कितनी है? उसके मानस में सरसता कितनी है? और उदारता व सन्तोष कितना है? यदि ये सद्गुण उसमें हैं, तो समझना चाहिए, कि वह सच्चा इन्सान है। स्नेह सद्भाव और समता का मधुमय स्रोत जिसके मानस पर्वत से कल-कल करता बहता हो, संसार में उससे बढ़ कर मनुष्य और कौन होगा? शास्त्रकारों ने मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता इस आधार पर कही है, कि मनुष्य अपने जीवन को जैसा चाहे वैसा बना सकता है, घड़ सकता है, अपना नया विकास और निर्माण कर सकता है। अपने अन्तर में सोये पड़े ईश्वरी भाव को साधना के द्वारा जगा सकता है।

अपने काम, क्रोध और मोह प्रभृति विकारों को क्षीण कर सकता है।

मैं कह रहा था आपसे, कि मनुष्य के जीवन की महत्ता त्याग-वैराग्य और स्नेह-सद्भाव में है। त्याग और वैराग्य से वह अपने आपको मजबूत करता है, और स्नेह तथा सद्भाव से वह परिवार, समाज और राष्ट्र में फैलता है। व्यक्ति अपने स्वत्व में बन्द रह कर अपना विकास नहीं कर पाता। व्यष्टित्व का बन्धन मनुष्य की आत्मा को अन्दर ही अन्दर गला डालता है। स्व से पर में—व्यष्टि से समष्टि में और क्षुद्र से विराट में फैल कर ही मनुष्य का मनुष्यत्व सुरक्षित रह सकता है। जितने-जितने अंश में मनुष्य की चेतना व्यापक और विराट होती चली जाएगी, उतने-उतने अंशों में ही मनुष्य अपने विराट स्वरूप की ओर अग्रसर होता आता है। भगवान महावीर ने कहा है "जो साधक सर्वात्मभूत नहीं हो पाता, वह सच्चा साधक नहीं है। मानव! तेरी महानता तेरे हृदय के अजस्र बहने वाले अहिंसा स्रोत में है, तेरी विशालता तेरी करुणा व दया के अमृत-तत्व में है और तेरी विराटता है, तेरे प्रेम की व्यापकता में। तेरा यह पवित्र जीवन-जिसे स्वर्ग के देव भी प्यार करते हैं—पतन के गर्त में गलने-सड़ने के लिए नहीं है, वह है तेरे उत्थान के लिए। तू उठ, तेरा परिवार उठेगा, तू उठ, तेरा समाज जागेगा। तू उठ, तेरा राष्ट्र भी जीवन के नव

स्फुरण और नव कम्पन की नव लहरियों में लहरने लगेगा। व्यक्ति की चेतना की विराटता में ही जग की विराटता सोयी पड़ी है। महावीर की विराट चेतना केवल महावीर तक ही अटक कर नहीं रह गई, वह जग जीवन के कण-कण में बिखर गई। इसी तथ्य को भारत के मनीषी यों कहते हैं—मनुष्य देव है, मनुष्य भगवान है, मनुष्य सब कुछ है। सीधे रास्ते पर चले, तो वह देव और भगवान है, और यदि उल्टी राह पर चले, तो वह शैतान, राक्षस और पिशाच भी बन जाता है। नरक, स्वर्ग और मोक्ष-जीवन की ये तीनों स्थितियां उसके अपने हाथ में हैं। जब मनुष्य की आत्मा में उसका सोया हुआ देवत्व जागृत हो जाता है, तब उसकी चेतना भी विराट होती जाती है, और यदि उसका पशुत्व भाग जाग उठता है, तो वह संसार में अशान्ति और तूफानों का शैतान हो जाता है। मनुष्य के अन्तर में जो अहिंसा, करुणा, प्रेम और सद्भाव हैं—वे उसके देवत्व के, ईश्वरी-भाव के कारण हैं, और उसके अन्तर मानस में उठने वाले तथा उसके व्यवहार की सतह पर दीख पड़ने वाले द्वेष, क्रोध घृणा और विषमता-उसके राक्षसत्व के कारण हैं। इसलिए मनुष्य अपने आप में राक्षस भी है और देवता भी है।

इस प्रकार भारतीय चिन्तन की परम्परा मनुष्य को विराट रूप में देखती है। गीता में श्रीकृष्ण के विराट रूप का जो वर्णन आता है, उसका तात्पर्य यही है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने आप में एक विराट चेतना लिए घूमता है। हर पिण्ड में

ब्रह्माण्ड का वास है। आवश्यकता केवल इस बात की है, कि मनुष्य अपनी सोई हुई शक्ति को जागृत भर करता रहे।

जैन धर्म का यह एक महान सिद्धान्त है, कि हर आत्मा परमात्मा बन सकती है, हर भक्त भगवान हो सकता है, और हर नर नारायण होने की शक्ति रखता है। वेदान्त दर्शन भी इसी भाषा में बोलता है—'आत्मा तू क्षुद्र नहीं,' महान है, तू तुच्छ नहीं, विराट है। भारत की विचार परम्परा जनजीवन में विराटता का प्राणवन्त संदेश लेकर चली है। चेतना का वह विराट रूप लेकर चली है। भारत के मनीषी विचारकों का प्रेम-तत्व मात्र मनुष्य तक ही सीमित नहीं रहा—उस प्रेम तत्व की विराट सीमा रेखा में पशु पक्षी कीट-पतंगे और वनस्पति जगत भी समाहित हो जाता है। भारत की विराट जन चेतना ने सांपों को दूध पिलाया है। पक्षियों को मेवा खिलाई है। पशुओं के साथ भी स्नेह का और सद्भाव का सम्बन्ध रखा है। इतना ही नहीं, पेड़ व पौधों के साथ भी तादात्म्य सम्बन्ध रखा है। महर्षि कण्व अपने आश्रम से दुष्यन्त के साथ जब अपनी प्रिय पुत्री शकुन्तला को विदा करते हैं तब आश्रम की लताएं और वृक्ष अपने फूल और पत्तों का अभिवर्षण करके अपना प्रेम व्यक्त करते हैं। हर्ष भाव को प्रकट करते हैं।

मैं आपसे विचार कर रहा था, कि भारत की विचार परम्परा मनुष्य के लिए ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी और पेड़ पौधों से भी स्नेह का, प्रेम का, तथा सद्भाव का सम्बन्ध थापित

करती है। मनुष्य की विराट चेतना का यही रहस्य है, कि वह केवल मनुष्य समाज तक ही सीमित न रह कर जग के अणु-अणु में व्याप्त हो गई है, और इसी में है मनुष्य का सच्चा मनुष्यत्व।

लाल भवन जयपुर }

: ६ :

भारत की विराट आत्मा

महान भारत का अतीत युगीन मान-चित्र उठाकर देखते हैं, तो उसमें भारत की विराट आत्मा के दर्शन होते हैं। भारत के गौरव पूर्ण अतीत के इतिहास को पढ़ने वाले भली भाँति जानते हैं, कि उस युग के भारत का क्षेत्र फल कितना विशाल व कितना विराट था? आज का पाकिस्तान ही नहीं, उसे भी लाँघ कर आज के काबुल के अन्तिम छोरों तक भारत का जन-जीवन प्रसार पा चुका था। केवल भूगोल की दृष्टि से ही उस युग का भारत विस्तृत व महान नहीं था, बल्कि विचारों की उच्चता में सभ्यता के प्रसार में, और अपनी संस्कृति तथा धर्म के फैलाव में भी भारत महान व विराट था। उस युग के भारत का शरीर

भी विशाल था, और उसकी आत्मा भी विराट थी। आज का भारत, क्या पूछते हो ! तुम आज के भारत की बात। यह देह से भी छोटा व ओछा होता जारहा है और विचारों से भी बौना बनता चला जारहा है। यह एक खतरा है।

मैं आप से भारत की विराटता की बात कह रहा था। परन्तु, प्रश्न यह है, कि वह विशालता और विराटता कहां से आई, और कहां चली गई ? प्रश्न के समाधान के लिए हमें विचार महासागर के अन्तस्तल का संस्पर्श करना होगा।

जन जीवन की संस्कारिता और समुज्ज्वलता किसी भी देश की शिक्षा और दीक्षा, आदेश और उपदेशों पर निर्भर रहा करती है। पुरातन भारत में शिक्षा और दीक्षा-दोनों साथ-साथ चला करती थीं-जन जीवन के ये दोनों अविभाज्य अंग माने-समझे जाते थे। जन जीवनकी वेध-शाला में विज्ञान के साथ उसका प्रयोग भी चलता था। प्राचीन भारत में शिक्षा के बड़े-बड़े केन्द्र खुले हुए थे, जिन्हें उस युग की भाषा में "गुरुकुल" कहा जाता था। आज जिन्हें आप हम कॉलेज व युनिवर्सिटी कहते हैं। आज के ये शिक्षा-केन्द्र नगर के कोलाहल-संकुलित वातावरण में चलते हैं, परन्तु वे गुरुकुल वनों और जंगलों के एकान्त व शान्त वातावरण में चलते थे। मानव के नैतिक जीवन की पावनता की सुरक्षा जीतनी प्रकृति माता की मंगलमयी व मोद भरी गोद में रह सकती है, वैसी भोग-विलास से भरे-पूरे नगरों में नहीं। गुरुकुलों के पुण्य प्रसंगों में आचार्य

और उनके शिष्य एक साथ रहते सहते, एक साथ खाते-पीते, और एक साथ उठ-बैठते थे। आचार्य अपने शिष्यों को जो भी शिक्षा देता, वह आज की तरह पोथी-पन्नों के बल पर नहीं, बल्कि वह ज्ञान को आचरणका रूप देता था-जिसका शिष्य अनुसरण करते। शिक्षा को दीक्षा में उतारकर बताया जाता था। ज्ञान को कर्म में उतारा जाता था। बुद्धि और हृदय में समन्वय साधा जाता था। उस युग का आचार्य व गुरु अपने शिष्यों से व अपने छात्रों से स्पष्ट शब्दों में चेतावनी और सावधानी देता कहताथा-"यान्यस्माकं सुचरितानि तान्येव सेवितव्यानि नो इतराणि"

मेरे प्रिय छात्रों! मैं तुम से स्पष्ट शब्दों में जीवन का यह रहस्य कह रहा हूँ, कि तुम मेरे सुचरितों का और सद्‌गुणों का तो अनुसरण करना, परन्तु दुर्बलता और कमजोरी का अनुसरण मत करना। जीवन में जहाँ कहीं भी सद्‌गुण मिले ग्रहण करो और दोषों की ओर मत देखो। ये हैं-वे प्राचीन भारतकी शिक्षा-दीक्षा के जीवन-सूत्र, जो देश व समाज की बिखरी शक्ति को संयत करते हैं, और राष्ट्र की आत्मा को विशाल बनाते हैं।

मैं आप से कह रहा था कि उस युग का भारत इतना विराट क्यों था? किसी भी देश की विराटता वहां के लम्बे-चौड़े मैदान ऊंचे गगन-चुम्बी गिरि और विशाल जन मैदानों पर आधारित नहीं होती। उसका मूल आधार होता है-वहां के जन जीवन में धर्म की भावना और मनों की विराटता। छात्रजन गुरुकुल की

शिक्षा को पूरी करके अपने गृहस्थ जीवन में जब वापिस लौटता, तब अपने दीक्षान्त भाषण में आचार्य कहता था" धर्मे धीयतां बुद्धिर्मनस्ते महदस्तु च"।

वत्स, तुम्हारी बुद्धि धर्म में रमे। तुम अपने जीवन के क्षेत्र में कहीं पर भी रहो, परन्तु अपने धर्म अपने सत्कर्म अपने शुभ संकल्प और अपने जीवन की पवित्रता को न भूलो। जीवन के संघर्ष में उतरते ही तुम्हारे मार्ग में विकट-संकट विविध बाधाएँ और अनेक अड़चने भी आ सकती हैं, किन्तु उस समय भी तुम अपने मन में धैर्य रखना, और अपने धर्म के प्रति वफादार रहना, अपने सदाचार के प्रति वफादार रहना, तथा अपने जीवन की पवित्रता, जो वंश परम्परा से तुम्हें प्राप्त है और जो भारत की संस्कृति का मूल है-उस धर्म को तुम कभी न भूलना-और अपनी बुद्धिको सदा धर्म के संस्कारों से संस्कृत करते रहना। एक ओर शूली की नोंक हो और दूसरी ओर धर्म त्यागने की बात हो, तो तुम शूली की पैनी नोंक पर चढ़ जाना, परन्तु अपने धर्म को कभी मत छोड़ना। जीवन में धन बड़ा नहीं धर्म बड़ा है। मान बड़ा नहीं, धर्म बड़ा है। अपनी बुद्धि को धर्म में लगादो, धर्म में रमा दो।

आचार्य आगे फिर कहता है-मनस्ते महस्तु च, वत्स तेरा मन विराट हो, तेरा हृदय विशाल हो, भारत का दर्शन और धर्म मानव के मन को विराट बनने की प्रेरणा देता है। मनुष्य के मन में जब छोटापन और हृदय में जब क्षुद्रता पैठ जाती है,

तब वह अपने आप में घिर जाता है, बंद हो जाता है। उसके मानस का स्नेह-रस सूख जाता है, उसके मन में किसी के भी प्रति स्नेह व सद्भाव नहीं रहता। हृदय की क्षुद्रता और लक्ष्य की संकीर्णता मनुष्य के जीवन में सब से बड़ा दोष है। इस दोष के कारण ही मनुष्य अपने परिवार में घुल-मिल नहीं पाता-घर में जब जाता है-तो सब के चेहरों की हंसी गायब हो जाती है। ओछे विचारों का मनुष्य अपने समाज और राष्ट्र के जीवन में भी मेल-मिलाप नहीं साध सकता। उसकी संकीर्णता की दीवार उसे विश्व के विराट तत्व की ओर नहीं देखने देती। भारत का दर्शन और भारत का धर्म मानव मन की इस संकीर्णता को क्षुद्रता को और अपनेपन को तोड़ने के लिए ही आचार्य के स्वर में कहता है-मनस्ते महदस्तु च" मनुष्य तेरा मन महान हो, विराट हो। उसमें सबके समाजाने की जगह हो, तेरा सुख सब का सुख हो, तेरे अन्तरमन में परिवार समाज और राष्ट्र के प्रति मंगलमयी भावना हो। कल्याण की कामना हो। अपनेपन को सीमा में हो तेरा संसार सीमित न हो, समग्र वसुधा तेरा कुटुम्ब हो, परिवार हो।

तो, भारत की विराटता व विशालता का अर्थ हुआ यहां के दर्शन और धर्म की विशालता। भारत का धर्म और दर्शन जो कभी यहां के जन-जन के मन में रमा हुआ था, वह पोथियों में बंद है, मन्दिर और मस्जिदों की दीवरों में है। धर्म और दर्शन जब जन जीवन में उतरता है, तब उस देश की आत्मा विराट

बनती है। शरीर की विशालता को भारत महत्त्व नहीं देता, वह देता है-मन की विराटता को। शरीर की विशालता कुम्भकर्ण कंस और दुर्योधन को पैदा करती है, जिससे संसार में हाहाकार और तूफान आता है, परन्तु मन की विराटता में से राम. कृष्ण; महावीर और बुद्ध अवतार लेते हैं-जिससे संसार में सुख शान्ति और आनन्द का प्रसार होता है। देश फलता और फूलता है।

मैं आप से कह रहा था, कि भारत के उन्नयन का कारण भारत के धर्म और दर्शन के उन्नयन में रहा हुआ है। जिस देश के निवासियों का हृदय विशाल हो, मन विराट हो' उसमें धर्म-तत्व रमा हो, दर्शन-तत्व के अमृत से जिस देश के हृदयों का अभिसिञ्चन हुआ हो, वह देश फिर विराट और विशाल क्यों न हो?

लाल भवन जयपुर } २४-७-५५

: ७ :

काल पूजा, धर्म नहीं

काल बड़ा है, या मानव महान् है? यह एक प्रश्न है, जो अपना मौलिक समाधान चाहता है। भिन्न भिन्न प्रकार से इसका समाधान किया गया है। एक आचार्य ने तो यहाँ तक कहा कि "मनुष्य न अपने आप में बलवान है और न दुर्बल।" समय व काल ही मनुष्य को महान् व क्षुद्र बनाता है। आचार्य ने कहा—"समय एव करोति बलाबलम्।"

आचार्य ने सम्पूर्ण शक्ति काल के हाथों में सौंप कर मनुष्य को पंगु बना डाला है। मनुष्य काल के आधीन है। काल अच्छा, तो मनुष्य भी अच्छा। काल बुरा, तो मनुष्य भी बुरा।

परन्तु जैन संस्कृति इस निष्कर्ष से सहमत नहीं है। जैन धर्म के महान् चिन्तकों ने मनुष्य के जीवन की बागडोर काल के हाथ में न थमा कर स्वयं मनुष्य के हाथ में ही सौंपी है। उन्होंने कहा—"मनुष्य, तू अपने आप में लघु और हीन नहीं, महान् और विराट है। तेरा चढ़ाव और ढ़लाव, तेरा उत्थान और पतन, तेरा विकास और विनाश स्वयं तेरे हाथ में है। तू स्वयं ही अपने जीवन का राजा है, भाग्य विधाता है और निर्माता है—अपने आपको चाहे जैसा बना ले।" तू उठता है, तो तेरे साथ में जगत् भी उठता है, तू गिरता है, तो तेरे साथ में जगत् भी गिरता है। तेरी आत्मा में अनन्त शक्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित है, उसके प्रकटीकरण में काल निमित्त मात्र भले ही रहे, परन्तु उपादान तो स्वयं तेरी आत्मा ही है। जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार षट द्रव्यों में जीव भी है और काल भी। जीव सचेतन है और काल अचेतन है, जड़ है।

किन्तु, मुझे कहना पड़ता है कि आज समाज में और राष्ट्र में काल की पूजा हो रही है, जब कि होनी चाहिए, सचेतन मनुष्य की। काल को लेकर समाज में बड़ा विवाद चल पड़ता है। वतावरण अशान्त ही नहीं, विषाक्त भी हो जाता है। उदय और अस्त के कलह, चतुर्थी और पंचमी के विग्रह, संवत्सरी और वीर जयन्ती के संघर्ष प्रतिवर्ष इस जड़ काल पूजा के कारण हमें परेशानी में डाले रखते हैं। संवत्सरी सावन की करें या भादवे की? चतुर्थी की करें या पंचमी की? शताधिक

वर्षों में भी हम इसका समाधान नहीं कर सके, निष्कर्ष नहीं निकाल सके। यह काल की पूजा नहीं तो और क्या है ? काल-पूजा का अर्थ है—जड़ पूजा, जो मानव के सचेतन व सतेज जीवन को भी जड़ बना देती है। संवत्सरी, वीर जयन्ती आदि पर्वों को लेकर संघ के संघटन का विघटन करना, संघर्ष का तूफान बरपा करना और समाज के शान्त वातावरण को उत्तेजना-पूर्ण बना डालना—काल की जड़ पूजा नहीं; तो क्या है ?

बड़ी विचित्र बात है, यह। आपके हाथ की हथेली पर मिसरी की डली रखी है। आप पूछते फिरें कि "कब खाने से इसमें अधिक मिठास निकलेगा। भोले भाई, यह भी कोई पूछने की बात है ? जब अपनी जीभ पर रखेगा, तभी उसमें से मिठास निकलेगी। क्योंकि मिठास देना मिसरी का स्वभाव है और मिठास लेना जीभ का। लोग हमसे पूछते हैं, तप कब करें ? कब करने से अधिक फल होता है ? पहले भादवे में संवत्सरी करने में धर्म है या दूसरे भादवे में ? मैं कहता हूँ कि धर्म तो विवेक में है। यदि विवेक है, तो दोनों में से कभी भी क्यों न करो। यदि विवेक नहीं है, तो फिर भले सावन में करो, अथवा भादवे में करो। भावना शून्य क्रिया का जीवन में कुछ भी मूल्य नहीं है, क्योंकि धर्म का आधार भावना पर है, न कि जड़ भूतकाल पर !

विराट काल के विशाल पट पर कहीं पर भी सावन और भादवे की चतुर्थी और पंचमी की छाप अंकित नहीं है।

जीवन का संव्यवहार स्थूल तत्व को पकड़ कर चलता है। सामाजिक और सामूहिक जीवन में संघ-विचारणा को लेकर ही इन बाहरी स्थूल मर्यादाओं का मूल्य आंका जाना चाहिए। वास्तविक मूल्य तो मानव के विचार का और संकल्प का है। जिससे संघ में शान्ति और समता का प्रसार हो, वह कार्य धर्म मय माना जाना चाहिए। जैन धर्म में काल की अपेक्षा शान्ति, समता और सम-भाव का मूल्य अधिक है। क्योंकि जैन धर्म आत्मा का धर्म है। वह चैतन्य जगत का धर्म है। उसका सम्बन्ध आपके अन्तर मन से है। जीवन में सद्गुणों का विकास करना, मानव के मन का काम है, कि काल का ?

मैं देख-सुन रहा हूँ, कि समाज के पत्रों में आज-कल संवत्सरी को लेकर काफी गर्म चर्चा चल पड़ी है। कोई कहता है, संवत्सरी पहले भादवे में करो—यही सिद्धान्त सम्मत है। कोई कहता है—दूसरे भादवे में करो-यह शास्त्रानुकूल है। कोई पहले ५० दिनों को पकड़ कर चलते हैं और कोई पिछले ७० दिनों को पकड़ कर बैठा है। इन ५० और ७० से आत्मा का कल्याण होने वाला नहीं है। आत्मा का कल्याण होगा, आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र को विशुद्ध करने से। आत्मा को शुद्ध करने वाला ही सच्चा आराधक है। यदि आत्म-संशुद्धि की भावना से जप-तप किया जाता है, तो वह ५० और ७० दोनों में भी हो सकता है। दोन पक्षों में मुख्य वस्तु है, शुद्ध भावना।

मेरी समझ में नहीं आता—लोग किस बात पर संघर्ष करते हैं। भला यह भी क्या बात है, कि सत्य बोलना ठीक है; परन्तु वह पहले भादवे में बोला जाए, या दूसरे भादवे में। पहले में बोलने से अधिक धर्म है, या दूसरे में बोलने से? कितनी नासमझी का प्रश्न है? भगवान की वाणी है— "सच्चं लोगम्मि सारभूयं, सच्चं खु भगवं।" सम्पूर्ण लोक का सार-तत्त्व सत्य ही है, सत्य ही तो भगवान् है। जब बोलो तभी वह मधुर है, सुन्दर है।

तप करना है, पर कब करें? चतुर्थी को या पंचमी को। सप्तमी को या अष्टमी को। त्रयोदशी को या चतुर्दशी को। मैं कहता हूँ, इस प्रकार सोचना ही गलत है। क्योंकि तप तो आत्मा का तेज है। जब करोगे, तभी चमकोगे तभी, दमकोगे-दीपक प्रज्वलित होते ही प्रकाश बिखेरता है।

हमारी दृष्टि तो यह होनी चाहिए, कि समाज में और संघ में जिस किसी भी प्रकार शान्ति, समता, स्नेह और अनुशासन बढ़े, उस अवस्था के अनुसार व्यवस्था कर लेनी चाहिए। सादड़ी सम्मेलन में जिस भावना का आधार लेकर हम ने निर्णय कर लिया है—उसका पालन होना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अपरिहार्य भी है। श्रमण संघ के अनुशासन का परि-पालन हमारे लिए महान् धर्म है, भले ही हम से विपरीत मत-वालों की दृष्टि में वह निर्णय योग्य न भी हो। एक ओर श्रमण संघ के संविधान का अनुशासन और दूसरी ओर

विरोधी मत की कटु और तीव्र आलोचना का भय। परन्तु हमें विचारना यह होगा कि-इन दोनों में से हमें कौन-सा पक्ष वरेण्य है। आज के श्रमण संघ को और श्रावक संघ को यही निर्णय करना है,—याद रहे होनहार परम्परा के अग्रदूत श्रमण संघ का इतिहास यो लिखेंगे—

"श्रमण संघ अपने अनुशासन में सुदृढ़ रहा, कटु आलोचना और तीव्र भर्त्सना के बावजूद भी।" अथवा—

"श्रमण संघ का बालू का किला ढह गया, विरोधी मत की कटु आलोचना और तीव्र भर्त्सना से।"

आज के श्रमण संघ को अपने भविष्य के भाल-पट्ट पर क्या लिखवाना अभिप्रेत है? इस का सुदृढ़ निर्णय उसे आज या कल में करना होगा।

लाल भवन जयपुर } २७-७-५५

: ९ :

ध्येय-हीन जीवन, व्यर्थ है

आपका जीवन आपका सबसे अधिक मूल्यवान् धन है। आपके जीवन की सारी सफलता आप के जीवन के ध्येय पर आधारित है। आप अपने जीवन में जो करना चाहते हैं, और होना चाहते हैं, उस पर अधिक से अधिक चिन्तन करें, मनन करते रहें। जीवन का अनुभव मनुष्य को महान् बनाता है। क्योंकि अनुभव संसार का सर्वतो महान् गुरु होता है। जीवन के नित्य-निरन्तर अनुभव से मनुष्य बहुत-सी भूलों से बच जाता है, और अपने ध्येय की ओर मजबूत कदमों से चल पड़ता है।

सम्पूर्ण जीव-सृष्टि में मानव जीवन से श्रेष्ठ अन्य जीवन नहीं है, क्योंकि मनुष्य जीवन ही मुक्ति का द्वार है। स्वर्ग वासी देव भी मनुष्य जीवन की कामना करते रहते हैं। जैनागमों में एक शब्द है—"देवाणुप्पिा" जिसका अर्थ होता है, देवताओं का प्रिय अर्थात् मानव जीवन-भौतिक सत्ता के अधिष्ठाता देवों के जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु यहां पर जो मनुष्य जीवन को देव प्रिय कहा गया है, उसका अर्थ केवल हाड़-मांस के ढेर इस मानव देह से नहीं है, बल्कि मानव की आत्मा, और मानव मन की पवित्रता से ही आंकना चाहिए।

मनुष्य जीवन की सफलता तब है, जब कि वह अगरवत्ती के समान हो। अगरवत्ती अपने आप को जला कर भी आस-पास के वातावरण को महका देती है। अगरवत्ती से पूछा जाय, कि तू जलकर भी खुशबू क्यों छोड़ती है? तो वह कहेगी—क्योंकि यह मेरा स्वभाव है। मैं जलती रहूँगी, पर दूसरों को आनन्द देती रहूँगी। यही मेरे जीवन का ध्येय है।

मोमवत्ती की भी यही दशा है। वह स्वयं जलती है, पर दूसरों को प्रकाश देती है। प्रकाश देना उसके जीवन का ध्येय बन गया है। कण-कण करके जलने वाली मोमवत्ती मुक्त-भाव से अपने प्रकाश-धन को बिखेरती रहती है। जलाने वाले से मोमवत्ती कहती है—

"बहारें लुटा दीं, जवानी लुटा दी।
तुम्हारे लिये जिन्दगानी लुटा दी।"

कवि कहता है—मोमबत्ती का जीवन भी क्या जीवन है? वह अपना यौवन, अपना वसन्त और अपना जीवन, जलाने वाले इन्सान को अर्पित कर देती है। जब तक उसका जीवन शेष रहता है, निरन्तर वह प्रकाश की किरणें बिखेरती ही रहती है—यही उसके जीवन की शान है।

इसी तरह मनुष्य वह है, जो दूसरों के रुदन को हास में परिणत कर दे। हृदय में स्नेह की सुरभि रखता है, और बुद्धि में विवेक का प्रकाश लेकर जीवन यात्रा में चलता रहता है। मनुष्य का यह स्वभाव होना चाहिए, कि वह इस संसार-सदन में अगरबत्ती के समान महके और मोमबत्ती के समान जले। परिवार, समाज और राष्ट्र की दुर्गन्ध और अन्धकार को दूर करता रहे—यही मानव जीवन का ध्येय है। मनुष्य और पशु में क्या भेद है? यही कि पशु डण्डे से हांका जाता है, और मनुष्य विवेक से स्वयं चलता है। बिना विचार और विवेक के पशु और मानव में भेद-रेखा नहीं रहती।

फूल का निवास कांटों की सेज पर होता है। गुलाब का फूल कितना सुन्दर, कितना मधुर और कितना मोहक होता है। परन्तु उसके चारों ओर कांटे खड़े रहते हैं। वह कांटों में भी मुस्कराता है। कांटों की सेज पर बैठा भी हँसता रहता है

मनुष्य का जीवन भी गुलाब का फूल है, जिसमें स्नेह की सुरभि और सत्य का सौन्दर्य है। परिवार और समाज की समस्यायें वे काँटे हैं, जिनमें जीवन गुलाब घिरा रहता है। परन्तु साहसी मनुष्य कभी व्याकुल नहीं होता। वह विकट संकटों में भी हंसता ही रहता है। अनुकूल वातावरण में मुस्कराना बड़ी बात नहीं, बड़ी बात है, प्रतिकूलता में भी अपने मन को प्रसन्न और शान्त रखना।

यदि मनुष्य ऊँचे पद पर पहुँच कर भी नम्रता और शिष्टता को भूला नहीं है, तो कहना होगा, कि उसमें मनुष्यता शेष है। पदानुरागी और मदानुरागी मनुष्य में मनुष्यता का संदर्शन सुलभ नहीं कहा जा सकता।

रोम के पोप के जीवन का एक मधुर प्रसंग है। एक बार पोप के दर्शन को उसके गांव का एक बड़ा-बूढ़ा मनुष्य आया। वृद्ध ने अपने गांव में जब यह सुना, कि मेरे ही गांव का एक तरुण युवक पोप बना है, तब वह अपने हृदय के आनन्द को रोक नहीं सका। पोप से मिलने को रोम जा पहुंचा। वृद्ध ने पोप के निवास स्थान पर जाकर देखा—हजारों भक्त और सैंकड़ों पादरियों के मध्य में पोप विराजित है। पोप ने भी ज्यों ही अपने गांव के बूढ़े को देखा, त्यों ही अपने सिंहासन से खड़ा हो गया, और वृद्ध को अभिवादन भी किया। बड़े प्रेम के साथ बात-चीत करने लगा। परन्तु पादरियों से यह देखा नहीं गया। उन्होंने कहा—आप यह क्या कर रहे हैं? आप

खड़े क्यों हो रहे हैं ? आप अभिवादन और सत्कार किसका कर रहे हैं ? पोप ने मधुर-भाव से कहा—"मेरे गांव के बड़े-बूढ़े व्यक्ति आये हैं। सत्कार करना मेरा कर्तव्य है। पादरियों ने कहा—नहीं, यह ठीक नहीं। आप पोप हैं। विश्व में आप से बड़ा कौन है ? किसी का अभिवादन और सत्कार करना, यह पोप की मर्यादा की परिधि से बाहर है। पोप ने हँस कर कहा—"आप ठीक कहते होंगे। परन्तु क्या करूँ ? मेरी इन्सानियत अभी जिन्दा है, वह मरी नहीं है।"

बात सुन कर हँसी आना सहज है। किन्तु पोप की बात में जीवन का कितना महान् सत्य भरा है। अपना विकास करो, अभ्युदय करो—पर नम्रता और शिष्टता को भूल कर नहीं।

मैं आप से जीवन के ध्येय की बात कह रहा था। जीवन का ध्येय क्या है ? क्या मानव देह प्राप्त कर लेना ही जीवन का ध्येय है ? कदापि नहीं। वीतराग की वाणी है—माणुस्सं खु सुदुल्लहं।" मनुष्य बनना कठिन नहीं, मनुष्यत्व प्राप्त करना ही वस्तुतः कठिन है। मानव देह पाना जीवन का ध्येय नहीं है, जीवन का सच्चा ध्येय है, मानवता को प्राप्त करना, इन्सानियत को पाना।

मैं कह रहा था, आपसे कि मनुष्य वह है, जो अपने हृदय में प्रेम और सद्भाव रखता है। मनुष्य वह है, जिसके दिल में दया और अनुकम्पा है। मनुष्य वह है, जो भ्रातृ-भाव की सरस तरंगों में बहता है। मनुष्य वह है जो यह कहता है, आओ, मैं

भी जीवित रहूँ, और तुम भी। मनुष्य वह है, जो वैर-विरोध के क्षणों में भी अपने कर्तव्य को नहीं भूलता है। आपके राजस्थान के जन जीवन की एक घटना है—

एक ही नगर में और एक भी मुहल्ले में रहने वाले दो राजपूतों का परस्पर वैर-विरोध बड़े लम्बे अर्से से चल रहा था। दोनों एक-दूसरे के खून के प्यासे थे। दोनों अवसर की तलाश में थे। कब चांस मिले, और कब मार्ग का काँटा साफ हो? यह थी, उन दोनों की विनाशक भावना।

एक दिन का प्रसंग है, कि राजा का मदोन्मत्त गजराज बन्धन तुड़ा कर भाग निकला। जिधर भी गया, सर्व-नाश करता गया। बाजार, गली और मुहल्ले सब में सन्नाटा छा गया। एक बच्चा गली के मोड़ में से निकला और दूसरी तरफ जाने को भागा। सामने से यमराज की तरह गजराज आ पहुँचा। लड़के का पिता भी यह भयंकर दृश्य देख कर काँप गया। परन्तु अपने प्राणों के मोह से छुपा ही खड़ा रहा, साहस करके अपने लाड़ले लाल की रक्षा करने के लिए आगे नहीं बढ़ सका। प्राणों का भय मनुष्य को कायर बना देता है। जहाँ सबको अपने प्राणों की पड़ी हो, वहाँ दूसरों के प्राणों की रक्षा करना, विरले मनुष्यों का ही काम है। लेकिन वह राजपूत जो उस लड़के के बाप का कट्टर वैरी था, और जो यह भी जानता था, कि यह लड़का मेरे वैरी के घर का एक मात्र चिराग है, वह बिजली के वेग से आगे बढ़ा और लड़के को गजराज

के आगे से गोद में भर कर भागा। मौत के भयानक मुंह में से स्वयं भी निकला और लड़के को भी बचा लाया। वह चाहता, तो अपने वैर का बदला चुका सकता था। परन्तु उसकी दिव्य-मानवता ने उसे यह क्रूर-दृश्य देखने नहीं दिया।

नगर के हजारों लोगों ने दिल दहलाने वाले इस भयंकर दृश्य को देखा, और उस साहसी सच्चे इन्सान की जय जयकार करने लगे। लड़के का पिता भी उसकी सच्ची मानवता को देख कर पिघल गया। अपने वैर-विरोध और घृणा को भूल गया। लड़के का पिता उसके पैरों में गिर पड़ा और बोला—तू मेरे प्राणों का गाहक था, मेरा सर्व नाश करने को तुला हुआ था, फिर तू ने जान-बूझ कर मेरे घर के चिराग की रक्षा कैसे करली? लड़के को बचाने वाले राजपूत ने गम्भीर स्वर में कहा—"मेरी लड़ाई तुझसे है, तेरे लड़के से और तेरे घर वालों से नहीं। यह बच्चा जैसा तेरा वैसा मेरा। यदि आज मैं इसके प्राणों की रक्षा नहीं करता, तो मेरी मानवता, दानवता बन जाती।"

मैं आपसे कह रहा था, कि न जाने कब, मनुष्य के अन्तर में प्रसुप्त देवत्व और दानवत्व जाग उठे? मनुष्य की मनुष्यता की परीक्षा इसी प्रकार के प्रसंगों में होती है। इस घटना ने उन दोनों राजपूतों के जीवन के मोड़ को ही मोड़ दिया! जहाँ पहले वैर, विरोध और घृणा की आग जल रही थी, वहाँ अब स्नेह, सद्भाव और मैत्री की सरस सुन्दर सरिता प्रवाहित

होने लगी। भगवान् महावीर ने और संसार के दूसरे महा पुरुषों ने मनुष्य जीवन को "देव प्रिय और दुर्लभ" कहा है, वह इसी प्रकार के मनुष्य जीवन की बात है। संसार में देह धारी मनुष्य तो करोड़ों और अरबों हैं, परन्तु अन्तर मन के सच्चे मनुष्य तो इस संसार में विरले ही मिलते हैं।

मैंने अभी आप से कहा था—मनुष्य का सबसे अधिक मूल्यवान् धन है, उसका जीवन और उसके जीवन की सफलता का अमर आधार है, उसका पवित्र ध्येय। ध्येय के बिना जीवन में चमक-दमक नहीं आ पाती। मनुष्य जीवन का ध्येय क्या हो? इस प्रश्न का समाधान उस मनुष्य की स्थिति और अवस्था पर अवलम्बित है। "सेवा, भक्ति, परोपकार, दया, प्रेम" इन पवित्र भावों में से कोई भी एक भाव जीवन का ध्येय बन सकता है। आवश्यकता इस बात की है, कि इन्सान को अपना एक ध्येय स्थिर कर लेना चाहिए और उसी के अनुसार अपना जीवन यापन करना चाहिए। क्योंकि ध्येय बिना का जीवन एक जड़ जीवन है, निष्क्रिय जीवन है।

कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति अपने मित्र को पत्र लिखता है। एक कार्ड लिखता है। कार्ड बड़ा मजबूत और सुन्दर है। बेल-बूटे भी उस पर हो रहे हैं। आर्ट पेपर का चिकना कार्ड है। सुन्दर अक्षरों में सुन्दर बनावट से लिखा गया है। लिखने में और अनेक रंग की स्याही से उसे सज्जित करने में पर्याप्त श्रम किया है, परन्तु उस पर भेजने वाला व्यक्ति भेजने

के स्थान का पता लिखना भूल गया है। मैं आप से पूछूं कि क्या वह कार्ड अपने लक्ष्य पर पहुंच सकेगा, कभी नहीं। वह तो लेटर बोक्स से निकलते ही डैड ओफिस में डाल दिया जायगा। कार्ड का आर्ट पेपर, रंग बिरंगी स्याही और लिखने की सुन्दर कला, क्या काम आई !

यही स्थिति मनुष्य जीवनकी भी है। लम्बा चौड़ा शरीर हो, गौर वर्ण हो अंग-विन्यास व्यवस्थित हो, देह में बल शक्ति भी हो, परन्तु यदि इस सुन्दर मनुष्य जीवन का कोई ध्येन न हो, तो सुन्दर रेशमी-वस्त्र और माणक मोतियों के अलंकार भी मनुष्य शरीर के वास्तविक अलंकार नहीं हैं। इनकी कोई कीमत नहीं होती। ये तो पते विना के कार्ड के समान हैं। यदि जीवन में ये सब कुछ होकर भी मनुष्यता, दया, प्रेम और सदभाव नहीं-तो वह जीवन पते विना के कार्ड के समान व्यर्थ है, निरर्थक है। सुन्दर कार्ड पर जैसे पता आवश्यक है, वैसेही जीवन में ध्येय भी आवश्यक है ।

लाल भवन, जयपुर ३१-७-५५

: ९ :

जैन संस्कृति का मूल स्वर: विचार और आचार

मानव की जय और पराजय उसके अन्तर में ही रहती है। जब तक उसमें विचार शक्ति और आचार-बल है, तब तक उसे भय नहीं, खतरा नहीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता और विजय-श्री उसे उपलब्ध होती रहती है। विचार तथा आचार—ये दोनों शक्ति के अक्षय भंडार हैं। जैन संस्कृति का मूल स्वर—विचार और आचार ही है। भगवान् महावीर ने कहा है—

साधक तू साधना के महामार्ग पर आया है। इधर-उधर न देख कर सीधे लक्ष्य की ओर देखना तेरा परम धर्म है। यह तेरा जीवन-सूत्र है। विचार और आचार तेरी यात्रा में संबल

हैं, पाथेय हैं। इनको भूल कर तू साधना नहीं कर सकेगा। सदा इनकी संस्मृति रख कर चलता चल। विचार प्रकाश है, और आचार शक्ति। प्रकाश और शक्ति के सुमेल से जीवन पावन होता है।

साधक भले श्रमण हो या श्रावक, सन्त हो या गृहस्थ दोनों के जीवन का संलक्ष्य एक ही है—नित्य-निरंतर ऊपर उठना। साधना के अनंत गगन में ऊँची उड़ान भरना। पक्षी अपने घोंसले से निकलते ही अनन्त गगन में अपनी शक्ति भर उड़ान भरता है। पर, कब ? जब कि उसकी दोनों पाँखें सशक्त हैं, स्वस्थ हैं, मजबूत हैं। पक्ष-विहीन पक्षी कैसे उड़ान भर सकता है ? विना पांख का पखेरू नीचे जमीन पर ही गिरता है। उसके भाग्य में अनन्त गगन का आनन्द कहाँ ? यदि वह दुर्भाग्यवंश उड़ने का संकल्प भी करे, तो मिट्टी के ढेले की तरह नीचे की ओर ही पड़ेगा, ऊँचे नहीं उड़ेगा। यदि एक पांख का पक्षी हो, तो उसकी भी यही गति होती है, यही दशा होती है। उसके भाग्य में पड़ना लिखा है, उड़ना नहीं।

मैं आपसे कह रहा था—साधक कोई भी क्यों न हो ? श्रमण हो, श्रमणी हो, श्रावक हो, श्राविका हो और भले ही वह सम्यग दृष्टि ही क्यों न हो। साधना के अनन्त गगन में ऊँची उड़ान भरने के लिए विचार और आचार की मजबूत पाँखें होनी चाहिए। तभी वह बेखतरे ऊँचे उड़ सकता है ?

इस विषय को लेकर भारत के चिन्तकों में पर्याप्त मत भेद है। कुछ कहते हैं-जीवनोत्थान के लिए केवल विचार ही चाहिए

आचार की आवश्यकता ही क्या ? ब्रह्म को जान लेना, बस यही तो मुक्ति है। आत्म तत्व को जान लेने मात्र से माया के बन्धन टूट जाते हैं। अतः विचार व ज्ञान मुक्ति का अनिवार्य साधन है। कुछ कहते हैं-जीवनको परम पवित्र करने के लिए केवल आचार चाहिए,केवल क्रिया चाहिए। पूजा करो,भक्ति करो, जप करो, तप करो शरीर को तपा डालो बस, यही तो है मुक्ति का मार्ग। जीवन में करना ही सब कुछ है। ज्ञान की आवश्कता भी क्या है।भगवान ने अथवा आचार्यों ने जो बताया है वह ठीक है। वे बतागये और हमें करना है। लक्ष्य पर पहुँचने के लिए यात्रा में पैरों की जरूरत रहती है। आंख भले ही न हो, चलने में पैरों की जरूरत रहती है।

परन्तु; मैं कहता हूँ-यह चिन्तना और यह विचारणा जैन संस्कृति की साधना में उपयुक्त नहीं है। वहां तो आँख और पैर दोनों की आवश्कता ही नहीं अपितु अनिवार्यता भी है। चलने के लिए पैरों की जरूरत है, यह ठीक है पर देखने के लिए आँखों की भी आवश्कता है ही। "देखो, और चलो" यह सिद्धान्त तो ठीक है और चलते ही चलों, देखो मत, यह मत ठीक नहीं है। अन्धों की तरह चलने में कोई लाभ नहीं है। हाँ, तो भगवान महावीर कहते हैं-"जीवनोत्थान के लिए जीवन-विकास के लिए, जीवन की पवित्रता के लिए और जीवन की सिद्धि केलिएविचार और आचार, ज्ञान और क्रिया दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। ज्ञान को क्रिया की और क्रिया

को ज्ञान की आवश्यकता है। साधक को देखने के लिए आँख चाहिए और चलने के लिए पैर भी चाहिए। जैन संस्कृति का यह परम पवित्र सूत्र है "ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः"। ज्ञान और क्रिया से मोक्ष मिलता है। विचार और आचार से मुक्ति मिलती है। साधना के अनन्त गगन में ऊंची उड़ान भरने के लिए साधना करो विचार की, साधना करो आचार की। प्रकाश भी हो, और चलने की शक्ति भी।

मैं कह रहा था, कि विचार व विवेक के अभाव में साधक विपथ पर भी जा सकता है। जो नहीं करना चाहिये वह भी कर बैठता है। मैं एक बार एक ग्राम में ठहरा हुआ था। वहाँ एक भक्त था श्री दास। भक्ति में मगन रहता। संतों की सेवा करता। जप और तप में उसे बड़ा आनन्द आता। पढ़ा लिखा नहीं था। परन्तु बहुत से संतों की वाणी उसे याद थी। बोलने लगता तो झड़ी लगादेता। एक दिन वह बिगड़ बैठा। गाली देने लगा। जिस मुख से भक्ति के फूल झड़ते थे आज उस मुख से अंगारों की वरसा हो रही थी। सब लोग हैरान थे, कि इसे आज हो क्या गया? एक सज्जन ने साहस करके पूछा—भक्त जी, गाली किसे दे रहे हो? और किस लिए दे रहे हो? भक्त श्रीदास जी ने तपाक से कहा—"जिसे मेरी घरवाली दे रही है और जिस लिए दे रही है। मैं भी उसे ही दे रहा हूँ। आखिर, पत्नी की बात तो रखनी ही पड़ती है न?

श्रीदास के साथ किसी का संघर्ष नहीं। उसे यह भी पत नहीं कि किसके साथ और किस बात पर झगड़ा हो गया, घरवाली गाली देती घर में आई, तो खुद भी गाली देने लगा। जहां विवेक नहीं, विचार नहीं, चिन्तन नहीं, वहां यही स्थिति होती है, यही दशा होती हैं। परिवार में झगड़े क्यों होते हैं? नासमझी के कारण। समाज में संघर्ष क्यों होते हैं? अज्ञानता के कारण। राष्ट्र में युद्ध क्यों होते हैं? अविवेक के कारण। बहुत से लोग इस कारण गलत परम्परा को निभाते हैं, कि उनके बड़ेरे ऐसा ही करते थे। दूसरे कूपका चाहे मधुर व शीतल जल ही क्यों न हो? परन्तु परम्परावादी अपने बाप दादा के कूप का खारा पानी ही पीता है। इसलिये कि कूप उसके बड़ेरों का है। वे लोग चलते रहे हैं, किन्तु अंधे हाथी की तरह। हाथी में कितनी ताकत होती है? पर आँखें न होने के कारण अंधा हाथी इधर उधर टकराता ही फिरता है। मैं कह रहा था, कि जीवन में विचार के प्रकाश के बिना अंधेरा ही अंधेरा है। श्रीदास की तरह अंधे होकर चलने में कुछ भी सार नहीं। वह गति नहीं बल्कि तेली के बैल की तरह भटकना ही कहा जायगा।

जिस व्यक्ति के जीवन में विचार और विवेकका प्रकाश होता है, वह जानता है कि मैं कौन हूँ? मेरे जीवनका क्या लक्ष्य है! वह चिन्तन करता है अपने सम्बंध में—

"हुं कौन छुं ? क्याँ थी थयो ?
शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?

मैं कौन हूं? मैं देह नहीं हूँ। मैं इन्द्रिय नहीं मैं मन नहीं हूँ। ये सबतो पौद्गलिक हैं, जड़ हैं। मैं तो इन सबसे भिन्न हूँ। चैतन्य हूँ। ज्योति रूप हूं। अविवेक और अविचार के कारण ही मैने इनको अपना समझा था। इस प्रकार का भेद विज्ञान जिनके घट में प्रकट होता है, वे सच्चे साधक है, भले वे गृहस्थ हों या सन्त हों। शास्त्रों में साधक को मधुकर तुल्य कहा है। जैसे मधुकर पुष्प में से सुरभि और रस ग्रहण कर लेता है, वैसे साधक भी शास्त्रों मेंसे सार तत्व ग्रहण करलेता है। सुगृहीत विचार को फिर वह आचार का रूप देता है। ज्ञानके साथ क्रिया न हो, तब भी भव बन्धन से मोक्ष नहीं। अकेला ज्ञान भी निरर्थक और अकेली क्रिया भी व्यर्थ है। एक आचार्य ने कहा—"ज्ञानं भारः क्रिया विना, क्रिया निष्फला ज्ञानं विना"। दोनों के सुमेल में ही जीवन की पावनता व पवित्रता रह सकती है।

मैं अभी आप से कह रहा था कि, जीवन में विचार की आवश्यकता है, परन्तु आचार के साथ ही। केवल विचार ही विचार हो, आचार न हो तब भी जीवन की साध पूरी नहीं हो सकती। मधु मधुर होता है, यह जान लेने पर भी उसके माधुर्य का आनन्द चखने पर ही आता है। भोजन भोजन पुकारने से क्या किसी की भूख मिटी है? इसी लिये शास्त्रकार कहते हैं कि पहले समझो, फिर करो। पहले ज्ञान और फिर दया का यही गूढ़ रहस्य है समझ बहुत कुछ लिया पर किया कुछ भी नहीं। यदि जीवन की यही स्थिति रही तबतो वही बात होगी—

रात को अंधेरे में सेठ के घर में चोर जा घुसा। सेठानी को खबर लग गई। सेठ जी सो रहे थे। सेठानी धीमी आवाज में बोली—घर में चोर घुस आया है। सेठ ने कहा—मुझे पता है, चुप रह। चोर घर की कीमती चीजें समेटता रहा, गाँठ बांध ली, सिर पर भी रख ली। सेठ की चुप्पी देख कर सेठानी ने फिर कहा—चोर समान लेकर जाने को है। सेठ ने कहा—चुप रह, मुझे भी तो पता है। चोर चीजें लेकर घर से बाहर हो गया सेठानी ने कहा—यह तो गया। सेठ ने कहा मुझे भी ज्ञान है, कि बहुत सा सामान ले जा रहा है। सेठ की बेपरवाही पर सेठानी को रोष आया और बोली—"धूल पड़े तुम्हारे इस ज्ञान पर। घर लुटाता रहा, और तुम देखते ही रहे। इस देखने से तो न देखना ही अधिक अच्छा रहता। जो ज्ञान उपयोग में न आए वह किस काम का? वह तो मस्तिष्क का भार मात्र है।

आत्मारूप घर में विषय-कषाय का चोर आ गया। विवेक बुद्धि मन से कहती है—सावधान, अन्दर चोर है। परन्तु मन कहे—हाँ, मुझे पता है। पर करता कुछ भी नहीं। आत्मा की शान्ति, समता और सन्तोष धन को कषाय लुटेरा लूट रहा है फिर भी मन कुछ नहीं कर पाता। जीवन में इस प्रकार की जान कारी से कोई लाभ नहीं होता।

पण्डित और साधक में बड़ा अन्तर है । पण्डित जानता बहुत कुछ है । पर करता कुछ भी नहीं। साधक जानता कम है, पर करता अधिक है । गधे पर चन्दन लाद दो, वह उसके भार को समझ सकता है, पर उसके महत्व को नहीं। इसलिए जैन संस्कृति विचार और आचार दोनों को समान रूप में महत्व देती रही है। ज्ञान से क्रिया में चमक और क्रिया से ज्ञान में दमक आती है। दोनों के सुमेल से जीवन सुन्दर बनता है।

लाल भवन, जयपुर } २-८-५५

: १० :

समस्या और समाधान

सन्त से किसी एक व्यक्ति ने पूछा—"मनुष्य अपने जीवन में भूलों का शिकार क्यों होता है।" सन्त ने सहज भाव में कहा "जीवन में आधो से अधिक भूलें तो इस कारण से होती हैं, कि जहां विचार से काम लेना होता है, वहाँ मनुष्य भावना के वेग में बह जाता है, और जहाँ भावना से काम लेना होता है, वहां वह विचारों की उलझन में उलझ जाता है।" यही कारण है, कि मनुष्य भूलों का शिकार होता रहता है। भावना की आवश्यकता पर भावना शील बने, और विचार की आवश्यकता पर विचार शील। फिर वह किसी भी उलझन में नहीं उलझेगा। जीवन में इस प्रकार के विवेक की बड़ी आवश्यकता है।

मानव जीवन में उलझन और समस्या सदा बनी ही रहती है। विशेषतः आज का युग तो एक समस्या-युग है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्याओं में उलझता ही चला जा रहा है। मेरे विचार में समस्या और उलझन का होना, जीवन विकास के लिए आवश्यक भी है। जब मनुष्य के समक्ष कोई समस्या आ खड़ी होती है, तो वह उसे सुलझाने का प्रयत्न करता है। अपनी बुद्धि और शक्ति का प्रयोग करता है। इस अपेक्षा से जीवन में उलझन और समस्या अपना बड़ा महत्त्व लेकर आती है। वह मनुष्य को तेजस्वी और श्रम शील बना देती है। जीवन को सहिष्णु और सतेज बनाए रखने के लिए समस्या अभिशाप नहीं, बल्कि एक दृष्टि से प्रकृति का एक सुन्दर वरदान ही है, जो जीवन-विकास के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है, अपरिहार्य भी है।

आज के भाषण का विषय है—"हमारी समस्याएँ। अभी आप लोगों के सम्मुख तीन प्रवक्ता इस विषय पर बोल भी चुके हैं। मैं तो समझता हूं, कि आज का भाषण भी अपने आप में एक समस्या ही है। कम से कम मेरा भाषण तो अवश्य ही मेरे लिए एक समस्या बन गया है।

ग्यारह बज चुके हैं। आप को भी अब अपने घर की याद आ रही होगी। चौके की स्मृति आप को अस्थिर बना रही होगी। इस स्थिति में मेरा भाषण एक समस्या नहीं, तो और क्या है? मेरा स्वास्थ्य भी कुछ अर्से से मेरे मन की तरंगों का

साथ नहीं दे पा रहा है। आज यहां भी अस्वस्थ दशा में ही आया हूं, और अब भाषण देने को कहा गया है। यह भी एक समस्या है। परन्तु एक बात सब से अच्छी हुई। वह यह है, कि भाष्य पहले ही लिखा जा चुका है, व्याख्याएँ और टीकाएं पहले ही हो चुकी हैं। अब सूत्र रचना करना मेरा काम है। सतयुग में सूत्र पहले रचा जाता था, और बाद में भाष्य, व्याख्या और टीकाएं लिखी जाती थीं। लेकिन अब तो कलियुग है न।

आज का समाज जिस पथ पर चल रहा है, आज का व्यक्ति जिस परिस्थिति में से जीवन यात्रा कर रहा है, आज का राष्ट्र जिस परेशानी में से गुजर रहा है—ये सब समस्याएं हैं, उलझनें हैं। समस्याएं जीवन में बहुरंगी और अनेक हैं। वैयक्तिक समस्याएं, सामाजिक समस्याएं, राष्ट्रीय समस्याएं और आर्थिक समस्याएं। मालूम पड़ता है, आज का जन जीवन समस्याओं में घुलता जा रहा है, पिसता जा रहा है। दिलों में धड़कन बढ़ रही है, दिमाग में तूफान उठ रहे हैं। राष्ट्र परेशान है, समाज हैरान है, व्यक्ति अपने आप में बेकरार है। चारों ओर से समस्याओं ने घेरा डाल रखा है। ये सब समस्याएं हैं, उलझनें हैं, जिन का समाधान व्यक्ति, समाज और राष्ट्र माँग रहा है। मेरे विचार में सर्वत्र जो विग्रह, विद्रोह और कलह की आग जल रही है, उसे बुझाना—यही है, समस्याओं का समाधान भूलों को साफ करना भावना। की

जहां आवश्यकता हो, वहां भावना से काम लेना सीखें और जहां विचार की जरूरत हो, वहां विचार करें। समस्याओं के समाधान का यही मार्ग है।

भारत के प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू से एक बार विदेश में पूछा गया था, कि "आपके भारत की कितनी समस्याएं हैं।" एक मधुर मुस्कान के साथ नेहरू ने कहा "आज के भारत की जन संख्या ३५ करोड़ है, तो ३५ करोड़ ही समस्याएं हैं।"

लेकिन मैं तो कहता हूँ, यह भी एक सौभाग्य की बात है, कि एक व्यक्ति के पास एक ही तो समस्या आई। परन्तु यहाँ तो एक व्यक्ति के पास ही ३५ करोड़ समस्याएं हो, तो कोई बड़ी बात नहीं। भारत का धर्म और भारत की संस्कृति मनुष्य के हृदय की पवित्रता में विश्वास रखती है। मनुष्य एक दिन अपने आप उलझा तो एक दिन अपने आप सुलझ भी सकता है। मनुष्य जब अपने बौने रूप का परित्याग करता है, तब वह विराट बनता है, तब वह सुलझता है। जब मनुष्य अपने में विश्वात्मा के दर्शन करता है, तब वह समस्या का समाधान पा लेता है। "यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखम्।" यह भारत के चिन्तन का मूल केन्द्र रहा है। व्यक्तिक भी अपने आपको अपने आप में बन्द करके जीवित नहीं रह सकता। व्यक्ति समाज के लिए, समाज राष्ट्र के लिए और राष्ट्र विश्व के लिए अपने स्वार्थों का परित्याग करें, यही सम-

-स्याओं के समाधान का एक राज मार्ग है। भारत के एक मनस्वी चिन्तक ने समस्याओं का समाधान देते हुए कहा—

"अयंनिजः परोवेति,
गणना लघुचेतसाम्।

उदारचरितानांतु,
वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

यह मेरा है, यह पर का है। यह अपना है, यह बेगाना है। इस प्रकार की गणना, इस प्रकार की विचारणा, वे लोग करते हैं; जिन के दिल और दिमाग बहुत हल्के होते हैं। यह स्वत्व और यह परत्व जब तक रहेगा, तब तक समस्या का सही हल निकलना कठिन है। प्राचीन युग का एक ऋषि कहता है—"यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्।' यह सम्पूर्ण विश्व क्या है? एक नीड है, एक घोंसला है, एक घर है, जिस में मानव जाति को प्रेम, स्नेह और सद् भाव से रहना चाहिए, जिस प्रकार एक ही घोंसले में अनेक पक्षी रहते हैं। मनुष्य का यह विराट विचार, मनुष्य का यह विराट भाव ही मनुष्य को महान् बनाता है; समस्याओं के समाधान में सर्व समर्थ बनाता है। मनुष्य अपने आप में बन्द होकर अपनी समस्याओं का हल नहीं कर सकता। आज का युग तो सह अस्तित्व, सहयोग और सहकार का युग है। व्यक्ति की समस्या समाज की समस्या है, समाज की समस्या राष्ट्र की समस्या है, और राष्ट्र की समस्या

विश्व की समस्या है। आज व्यक्ति और समाज अपने आप में बन्द रहकर जीवित नहीं रह सकता।

आज का तरुण कहता है, यह रूढ़िवाद मुझे पसन्द नहीं। पुराना सब ध्वस्त करने में ही जीवन का आनन्द है। पुराना जो कुछ भी है, गल-सड़ गया है, उसे निकाल कर फेंक दो। नये मानव के लिये नया संसार ही बसाना होगा। वृद्ध कहता है-यह सब नासमझी है, नादानी है, वेवकूफी है। पुराना पुराना ही रहेगा और नया नया ही। आखिर पूर्वज भी तो बुद्धि रखते थे। नया और पुराना यह भी एक समस्या है। तरुण वृद्ध को पुराने ढर्रे का कहता है, और वृद्ध तरुण को नास्तिक कह कर झुठलाता है। यह भी एक समस्या है।

एक सेठ ने सुन्दर बाग लगाया। हरे-भरे सघन वृक्ष, फल और फूलों की अपार शोभा। पीने को शीतल और मधुर जल-आने जाने वाले यात्री वहां पर बैठ कर सुख और शान्ति का अनुभव करते थे। एक दिन सेठ का तरुण पुत्र बाग में आया। इधर-उधर घूमने लगा, तो पैर में बबूल की शूल चुभ गई। बड़ा क्रोध आया। माली को बुला कर रोष के स्वर में कहा "इस मनहूस बाग को उजाड़ डालो। इस में तीखे कांटे हैं। इस के स्थान पर नया बाग लगाओ, जिस में कांटे न रहें। सेठ को मालूम पड़ा तो माली से कहा-खबरदार इस बाग को उजाड़ा तो। क्यों कि यह मेरे बाप दादों का बाग है और इस पर मेरा बहुत खर्चा भी हो चुका है। वर्षों का परिश्रम इसके

पीछे हो चुका है। कांटे हैं तो क्या ? देख भाल कर क्यों नहीं चलते। यह क्या बात है कि असावधानी अपनी और रोष बाग पर।

माली के सामने विकट संकट और टेढी समस्या थी। दोनों के विरोधी विचार। माली चतुर था—उसने बाग में से कुछ काटा, कुछ छांटा। बबूल के पेड़ों की जगह फल और फूलों के हरे सघन वृक्ष लगा दिए गए। एक दिन पिता और पुत्र दोनों साथ आये। बाग को देखा। पुत्र प्रसन्न था, कि अब उस में कांटे नहीं रहे। पिता प्रसन्न था, कि मेरा बाग जैसा का तैसा ही रहा। चतुर माली के सुधार से दोनों प्रसन्न थे। क्यों कि इस में दोनों के विचारों का सुमेल था। दोनों की समस्याओं का सुन्दर समाधान था। पुत्र क्रान्तिकारी था, पिता रुढिवादी था, परन्तु मालीथा-सुधारवादी। जो अच्छा था, रखलिया, जो बुरा था, निकाल फैंका।

परिवार, समाज और राष्ट्र सबकी यही स्थिति है। उस के कल्याण और विकास का एक ही मार्ग है, कि अतीत का आदर करो और भविष्य का स्वागत। न अकेला क्रान्तिवाद काम का है, और न अकेला रुढिवाद। सुधार वाद ही समस्याओं का मालिक समाधान है। जीवन विकास में जो उपयोगी हो, ग्रहण करो, जो उपयोगी नही छोड़ो।

मैं अभी आप से सुधार की बात कह रहा था। सुधार कहाँ से प्रारम्भ हो ? व्यक्ति से या समाज से ? मेरा अपना

विश्वास यह है, कि सुधार पहले व्यक्ति का होना चाहिए। व्यक्ति सुधरा तो समाज भी सुधरा। मूल मधुर तो फल-पत्ते भी मधुर। व्यक्ति के विकास में ही परिवार, समाज और राष्ट्र का विकास सन्निहित है। उत्तर प्रदेश की एक लोक कथा मुझे याद आगई है।

एक जुलाहा था। कपड़े बुनने के सिवा वह झाड़ा फूंकी भी किया करता था। मन्त्र तन्त्र भी पढ देता था। वर्षा का समय था। छप्पर गीला रहने से चूता रहता। एक रोज जुलाहा आने वाले के झाड़ा-फूंकी कर रहा था। और साथ ही यह मन्त्र भी बोल रहा था—

"आकाश बाँधू पाताल बांधू।
वांधू समुद्र की खाई!"

जुलाहिन कई दिनों से कह रही थी, कि छप्पर ठीक बांधलो, जिससे बच्चे और हम भी सुख से रात काट लें। पर वह अपनी धुन में मस्त था। जब वह मन्त्र पढने लगा, तो जुलाहिन दौड़ी आई और जुलाहे के सिर में दो धप्प मारे। बोली—"नपुता, आकाश, पाताल और समुद्र बांधने चला है। पहले अपना छप्पर तो बांधले। तुझसे अपना यह छोटा-सा छप्पर तो बँधता नहीं, और आकाश, पाताल तथा समुद्र बांधने की कोरी बात करता है।

मनुष्य समूचे संसार के सुधार की विशाल संयोजना बनाता-बिगाड़ता है। परन्तु पहले अपने जीवन को तो सुधार

ले, विश्व, राष्ट्र और समाज के सुधार से पहले व्यक्ति को अपना सुधार करना होगा, तभी वह अपनी समस्याओं का मौलिक समाधान कर सकेगा। आगम, वेद और त्रिपिटक की लम्बी और गहरी चर्चा करने वालों को सोचना होगा, कि हम मानव जीवन की उलझी समस्याओं के सुलझाने में कितना योग दान कर रहे हैं।

बुलियन हॉल जयपुर } ७-८-५५

: ११ :

जब तू जागे तभी सवेरा

साधक का जीवन अथ से इति तक कठोर कर्मठता का महामार्ग है। साधक अपनी साधना की सही दिशा को पकड़ कर ज्यों-ज्यों उस पर अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों उसके गन्तव्य-पथ पर विकट संकटों की रुकावट और उपसर्ग व परीषहों की अड़चन आगे आकर अड़ कर खड़ी होती रहती है। इसी दृष्टि से साधक के साधना-पथ को कंटकाकीर्ण-पथ कहा गया है।

जीवन आखिर जीवन है। उसमें उलट-फेर व चढ़ाव-ढलाव होते ही रहते हैं। सावधानी इस बात की रखनी है, कि साधक अनुकूलता में फूले नहीं, और प्रतिकूलता में भूले नहीं।

महाकवि रविन्द्र ने अपनी एक कविता में कहा है—"सुख के फूल चुनने के लिए ठहर मत, और संकटों के कांटों से विकल हो लौट मत।" साधक को पवन-धर्मी बनना होगा। पवन सघन कुंज-पुंजों में आसक्त हो बैठा नहीं रहता, और दुर्गन्ध पूर्ण स्थानों में जाकर व्याकुल नहीं रहता। जीवन की उभय स्थिति में वह निर्लिप्त भाव से बहता चलता है।

भगवान् महावीर की वाणी में जीवन की इस स्थिति को, जीवन की इस दिशा को, वैराग्य या विराग भाव कहा गया है। भगवान् की मर्मस्पर्शी भाषा में वैराग्य का तात्पर्यार्थ जीवन के दायित्वों को फेंक कर किसी वन-प्रान्त के एकान्त शान्त कोने में टिक कर-जीवन-यापन करना नहीं है। उनकी वाणी में वैराग्य का अर्थ है-मन के दुर्वार विकारों से लड़ना, मानस-स्थित वासना से भूझना। संकटों के समय अद्विग्न रहना और अनुकूलता की सरिता में बह न जाना। आचारांग-सूत्र में साधकों को चेतावनी देते हुये उन्होंने कहा है—"जाए सद्धाए निक्खंता तमेव अणुपालिया।" साधकों! त्याग-वैराग्य के इस महा-पथ पर तुम अपने मन में जिस श्रद्धा जिस निष्ठा और जिस दृढ़ता को ले कर चल पड़े हो, जीवन के अस्ताचल पर पहुंचने तक उसका वफादारी से पालन करना।

मैं अभी आप लोगों से कह गया हूँ कि महावीर का वैराग्य मनुष्य को अपने कर्तव्यों से विमुख हो भागने की प्रेरणा नहीं देता, वह प्रेरणा देता है-जीवनके क्षेत्र में डटकर अपने

दायित्वों को पूरा करने की। जैन धर्म का वैराग्य एक वह वैराग्य है, जिसने फूलों की कोमल शय्या पर सोने वाले शालिभद्र को, सुनहली महलों में रंगरेली करने वाले धन्ना को और अमित धन वैभव के सुरभित वसन्त में पगे पोसे जम्बुकुमार को एक ही झकझोर में वैराग्य के हिमगिरि के परमशिखर की अन्तिम चोटियों पर ला खड़ा किया। यह जागरूक जीवन का जीवट वैराग्य है। यह वैराग्य फूलों की सेजों से जागा, कांटों की राहों पर चला और मानव के अन्तरतत्व की परम सत्ता-महत्ता का संस्पर्श कर गया आखिरी बुलंदी पर जापहुंचा। जैनधर्म का मूल स्वर ज्ञान गर्भित वैराग्य में झंकृत होता है।

जैनधर्म जीवन के जीते-जागते वैराग्य की बात कहता है। वह उस मृत वैराग्य का संदेश नहीं देता, जिसमें परिवार की, समाज की और राष्ट्र की उपेक्षा भरी हो। घर में माता-पिता रोग की पीड़ा से कराह रहे हों, बाल बच्चों का हालबेहाल हो, और पत्नी अभावों की आग में झुलस रही हो, जीवन की इन विषम समस्याओं से आंख मूंद कर आप यदि यह कहें, कि यह तो संसार खाता है। संसार अपने स्वार्थों को रोता आया है, और रोता ही रहेगा। माता-पिता व भाई-बहिन स्वार्थ के साथी-संगी हैं। बाल-बच्चे अपना भाग्य अपने साथ लाये हैं, और नारी तो नरक की खान है मैं इन उलझनोंमें उलझ कर अपना अमूल्य मानव-जन्म क्यों हारूं? माता-पिता भाई-बहिन और पुत्र-कलत्र, अनन्त बार मिले हैं—पर, क्या जीवन की साथ-सखी हैं? यह सब प्रपंच है। जीवन की छलना है।

मैं समझता हूँ, कि इसी म्रियमाण वैराग्य से भारत की आत्मा का पतन हुआ है। नारी के मरण-पर्व में से जिनके वैराग्य का उदय हुआ है, वे क्या अपनी आत्मा को साध सकेंगे, और क्या संसार को संदेश दे सकेंगे! जो जन्म से ही रंकता के दुर्भर भार से कराह रहे हैं? वे कैसे अपने जीवन के राजा बन सकेंगे? इस वैराग्य से आत्मा का उत्थान नहीं, पतन ही होता है। यह वैराग्य मसानिया वैराग्य है, अन्तस्तत्व के तलछट से उभरने वाला वैराग्य नहीं।

जैनधर्म का वैराग्य जब जीवन और जगत् के भौतिक पदार्थों को क्षणिक, क्षणभंगुर और अशाश्वत की संज्ञा देता है, तब उसका मतलब यह नहीं समझ लेना चाहिए, कि वह मनुष्य के जागतिक दायित्वों की उपेक्षा करता है।, उसकी क्षणिकता का तात्पर्य यह है, कि मनुष्य भोग-विलास राग-रंग और विषय-कषायों में ही आसक्त न बना रहे। वह भौतिक धरातल से ऊपर उठ कर-अध्यात्म की ओर बढ़े। महावीर का वैराग्य एक ओर अनासक्ति का संदेश लेकर आया है, तो दूसरी ओर वह मनुष्य के झूठे अहंत्व पर भी करारी चोट जमाता है। गाड़ी के निचे चलने वाला कुत्ता अगर यह सोचे कि-मैं ही इसे खींच रहा हूं, तो यह उस का झूठा अभिमान है। इसी प्रकार मनुष्य यह समझे कि परिवार व समाज की गाड़ी मेरे बल बूते पर ही चल रही है। इस लिए तो जैन धर्म का वैराग्य कहता है, कि यह कथन तेरा अहंत्व से भरा है

विश्व में मानव ! तेरा अस्तित्व ही कितना है ? तेरा जीवन तो मृत्यु की शूली की नोंक पर लटक रहा है। फिर भी इतना अभिमान। देवों का अपार बल-वैभव भी जब काल के महा-प्रवाह में स्थिर नहीं, तो तेरा परिमित बल व वैभव क्या हस्ती रखता है ! जीवन क्षण-क्षण और पल-पल मृत्यु के वेगवान प्रवाह में बह रहा है।

मैं आप से कह रहा था कि-महावीर का वैराग्य पतन का नहीं, उत्थान का वैराग्य है। वह मनुष्य के मन में छुपे हुए झूठे अहंकार को तोड़ता है, वह अनासक्ति का संदेश देता है, और जन-जीवन में जागृति का जयघोष करता है। वह कहता है— मानव ! जब तू जागे तभी तेरे जीवन का सुनहला प्रभात है। जब तू जागे तभी सवेरा। जीवन के क्षणों में जब भी तेरी मोह ममता की नींद खुले, तभी तू जीवन की सही दिशा को पकड़ कर बढ़ा चल।'

लाल भवन जयपुर } ९-८-५५

: १२ :

मानवता की कसौटीः दया

विचार-पक्ष का यह एक परम सत्य सिद्धान्त है, कि संसारी जीवन हिंसा-संकुल है। चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते और सोते-जागते जीवन के हर पहलू में हिंसा व्यापी रहती है। फिरभी हिंसा मानव जीवन का व्रत नहीं बन सकी। व्रत-कोटि में तो अहिंसा ही युग-युग से व्रत पद से अभिहित होती चली आरही है। वीतराग धर्म में जीवन की सर्वोच्च साधना अभय, अहिंसा और समता रही है। संवेदना अनुभूति एवं अमृतत्व के साम्यदर्शन से अहिंसा तथा साम्य भावना समुत्थित होती है। अनावेग की साधना ही जैन धर्म की भाषा में सच्ची अहिंसा है।

अभी मैं आपके समक्ष अभय, समता और अहिंसा की मूल भावना की परिभाषा कर रहा था। परन्तु अब जरा अभय और अहिंसा के दार्शनिक पहलू पर भी विचार करलें। दार्शनिक दृष्टिकोण से मानव जीवन में अहिंसा का क्या स्थान है?

भारत के सभी धर्मों ने और सभी दर्शनों ने आत्मा का शुद्ध स्वरूप सत्, चित्, और आनन्द कहा है। सत् का अर्थ होता है, सत्ता। वह तो जगत की जड़भूत वस्तुओं में भी उपलब्ध है, परन्तु वहाँ चित नहीं हैं, ज्ञान नहीं है। कषाययुक्त आत्मा में सत् भी है, और चित् भी है, किन्तु आनन्द नही है, शाश्वत सुख की स्फुरणा नहीं है। और यह एक सत्य सिद्धान्त है, कि प्रत्येक आत्मा सुख व आनन्द के लिए प्रतिपल प्रयत्नशील है। जैन दर्शन का कहना है, कि जब आत्मा की चित् शक्ति का पूर्ण विकास होगा, तब उसमें आनंद और शाश्वत सुख भी स्वतः समुत्थित होगा। जैन दर्शन के अनुरूप कषाय मुक्त आत्मा में ही सत् चित् और आनंद का पूर्ण विकास संभव होता है। कषायमुक्त आत्मा ही परमात्मा व सिद्ध होता है। सत् चित् और आनन्द की पूर्ण समष्टि का नाम ही तो परमात्मा या सिद्ध है।

अभय, अहिंसा और समता की साधना इसी परमपद को प्राप्त करने के लिए की जाती है। जीवों पर अहिंसा दया और करुणा का उपदेश इसलिये नहीं किया जाता, कि वे जीव हैं चेतन है, प्राणवान हैं। अपितु इस हेतु से किया जाता है, कि

सभी जीव सुख चाहते हैं, सभी जीव आनंद के अभिलाषी हैं, जैन धर्म के अनुसार जीव के आनन्द और सुख को क्षति पहुंचाना ही हिंसा है। उस हिंसाजन्य पाप से स्वयं बचना और और दूसरों को बचाना, यही वीतराग धर्म में अभय, अहिंसा, समता, अनुकम्पा है।

अभी मैं अभय; अहिंसा और समता के साथ अनुकम्पा दया और करुणा का नाम लेकर गया हूं। मेरे विचार में दया मनुष्य का सर्व प्रथम गुण है। किसी भी प्रकार का किसी के साथ पूर्व सम्बन्ध न होने पर भी दूसरे के दुख दर्द के प्रसङ्ग पर जो कोमल भावना मनुष्य के मन में पैदा होती है, और जो मनुष्य के कठोर हृदय को द्रवित कर देती है, उसीका नाम दया करुणा या अनुकम्पा है। यह दया ही मानव धर्म की जड़ है। संत तुलसीदास जी ने भी कहा है:—

"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छांड़िये, जब लग घट में प्राण॥"

धर्म का मूल दया ही, इस तथ्य में विचारशील मनुष्यों के दो मत नहीं हो सकते हैं। सम्यक्त्व के पांच अंगों में दया व अनुकम्पा भी एक अंग है। जो हृदय दया द्रवित नहीं वहां धर्म भावना पनप ही नहीं सकती। अभय और अहिंसा का व्यक्त स्वरूप ही दया और अनुकम्पा है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योग शास्त्र में श्रावक के २१ गुणों में दया शीलता को भी एक विशिष्ट गुण कहा है। दया से

परिपूर्ण हृदय सुख का स्रोत है।

अभय और अहिंसा की साधना में संसार के हर एक प्राणी के सुख और आनन्द की सुरक्षा की जाती है।

मैं समझता हूँ अब आप जैन धर्म की अभय भावना अहिंसा समता और दया-करुणा के मूल स्रोत से लेकर उसकी अभिव्यक्त धारा तक के इतिहास को समझ गये होंगे।

मैं आप से कह रहा था, कि कषाययुक्त से कषायमुक्त बनने के लिए, आत्मा के शाश्वत सुख और आनन्द को प्राप्त करने के लिए जीवन में अभय की आराधना और समता की साधना करना आवश्यक है। समता का अर्थ है, स्व भिन्न जीवों के प्रति समभाव रखना। समभाव के आचरण से ही अपने शरीर तक सीमित रहने वाला आत्म-भाव विश्व व्यापी होकर "आत्मवत्-सर्व भूतेषु" के रूप में प्रकट होने लगता है। समत्व योग की साधना से मनुष्य का संकुचित आत्मभाव विराट बनता जाता है। जब मनुष्य समत्व के सिद्धान्त को हृदयंगम कर लेता है, तब वह अभय और अहिंसा की साधना में स्थिर हो जाता है। दूसरे के दिल का दर्द जब अपने दिल का दर्द बन जाता है, तब समझ लेना चाहिए, कि अब जीवन में अभय, अहिंसा और दया का मधुर स्रोत बह निकलने लगा है।

निष्ठुर हृदय सूखी रेत के तुल्य है। दया हीन मानव वस्तुतः मानव न होकर मानव के शरीर में दानव ही होता है। दया जैन धर्म का प्राण है। दया सम्यक्त्व की सच्ची कसौटी है। दया

जीवन विकास का अनन्य साधन है। दया शील मानव दूसरे को कभी दुख में नहीं देख सकता, दूसरे को संकट में नहीं देख सकता। महापुरुषों का हृदय दया के अमृत से ओत-प्रोत रहता है।

आपने सुना ही होगा, कि एक तापस ने गोशाला पर तेजोलश्या फेंकी, तो वह आर्तनाद करने लगा। दया-प्रवण महावीर से उसकी यह दशा देखी नही गई, और उन्होंने शीतल लेश्या के प्रयोग से गोशाला के प्राणों की रक्षा की।

बौद्ध साहित्य में भी एक सुन्दर प्रसंग आता है, कि देवदत्त ने हंस को बाण मारा। वह हंस बाण से विद्ध होकर करुणा शील गौतम की गोदी में जा गिरा। देवदत्त ने अपने शिकार को मांगा, पर दया-शील गौतम ने नहीं दिया। दोनों में संघर्ष खड़ा होगया। अन्त में दोनों का यह संघर्ष शाक्यों की न्याय-सभा में प्रस्तुत किया गया। शाक्य न्याय-सभा के उच्चतम न्यायाधीश ने गौत्तम और देवदत्त की मांगों को गम्भीरता से सुनकर कहा—"मैं अपने हाथों से हंस को छोड़ूंगा। जिसकी गोद में वह स्वतः चला जाए, उसी को हंस मिलेगा।" सभाध्यक्ष के हाथों से छूटते ही वह घायल हंस अपने प्राण-रक्षक गौतम की गोद में जा बैठा। हंस ने प्रमाणित कर दिया, कि मारने वाले से बचाने वाला महान होता है। दया-शील मानव के हृदय में एक आकर्षण होता है, एक जादू होता है।

दया और करुणा अपने आप में एक बड़ी ताकत है, महान् शक्ति है। मानवता के परखने की सच्ची कसौटी है। दया और करुणा मानव की आत्मा का एक दिव्य गुण है।

जिस प्रकार बीज से अंकुर, अंकुर से वृक्ष, वृक्ष से पत्र पुष्प और फल होते हैं, वैसे ही अभय से अहिंसा, अहिंसा से समता और समता से दया, करुणा तथा अनुकम्पा होती है। अभय बीज का दया एक मधुमय अमृत फल है, जिसके आस्वादन से आत्मा अमृत हो जाता है, अमर बन जाता है।

आज आप लोगों में से बहुत-सों ने दया व्रत ग्रहण किया है, जिसका अर्थ है, कि आज आप संसार के प्रपंचों से दूर हट कर आत्म-साधना में संलग्न हैं। पांच आस्रवों का परित्याग करके पांच संवरों की साधना कर रहे हैं। हिंसा से अहिंसा की ओर, असत्य से सत्य की ओर, स्तेय से अस्तेय की ओर, काम से संयम की ओर और संचय से सन्तोष की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहे हो। वासना और विचारों से निकलकर आत्म-भाव में स्थिर हो जाना, और अपने स्वत्व में विश्वात्मा के दर्शन करना—वस्तुतः यही अभय और अहिंसा का विराट रूप है।

जयपुर, लाल भवन २६-६-५५

: १३ :

संयम की साधना

जैन संस्कृति में सर्वोच्च विजय उसे माना गया है, जो आत्म-विजय है। संसार को जीत लेना सरल है, पर अपने आपको जीतना कठिन है। पाश्चात्य संस्कृति सिकन्दर, नेपोलियन और हिटलर को महान कहती है। भारत में भी शतशः रण-विजेता और लड़ाके रण बांकुरे हुए हैं। परन्तु उन्हें महापुरुष नहीं कहा गया। यहाँ महापुरुषत्व की कसौटी यह है, कि जो अपना दमन कर सके, अपने आपको जीत सके, अपनी वासना और विकारों को रोक सकने में समर्थ हो। त्याग, तपस्या के महामार्ग पर चलने वाला ही वस्तुतः यहाँ महापुरुष, महाविजेता और महावीर कहलाता है। जैन धर्म

त्याग, संयम और तप का धर्म है। जिस व्यक्ति में, जिस परिवार में, जिस समाज में और जिस राष्ट्र में त्याग भावना, संयम साधना और तप आराधना है, वहाँ सर्वत्र जैन धर्म व्यक्त या अव्यक्त रूप में परिव्याप्त है।

जैन धर्म की यह चेतावनी है, कि आशा रखकर श्रम करो, किन्तु आवश्यकता के समय त्याग के लिए भी तैयार रहो। भोग के लिए जितनी तैयारी है, उससे कहीं अधिक त्याग के लिए भी तैयार रहो। जैन धर्म की मूल भावना का यदि किसी ने स्पर्श किया हो, तो वह इस बात को भली भांति जान सकता है, और समझ सकता है, कि शालि भद्र की ऋद्धि से, जम्बु-कुमार की सिद्धि से और धन्नाजी की वैभव शीलता से यहाँ किसी प्रकार का विरोध नहीं है। जैन धर्म तो केवल इतना ही अनु-रोध करता है, कि बटोरना सीखा है, तो छोड़ने की कला भी सीख लो। यदि आपके जीवन में त्याग भावना की इतनी तत्र तैयारी हो, तो भले ही शालिभद्र बनो, धन्ना बनो और जम्बू बनो। अपनी जिन्दगी की कार को मोड़ देने की कला यदि सीखली है, तो फिर धन वैभव के अम्बार में भी क्या खतरा है?

मैं आपसे कह रहा था, कि त्याग की भावना, संयम की साधना और तप की आराधना—जीवन की बहुत बड़ी आव-श्यकता है। त्याग की बलवती भावना के बिना मनुष्य का दैनिक कृत्य भी नहीं चल सकता। जननी अपने नवजात शिशु के

लिए कितना त्याग करती है ? कौन है, जो जननी के ऋण से उऋण हो सका हो ? बन्धु अपने बन्धु के लिए और मित्र अपने मित्र के लिए जो त्याग करता है, उसका लेखा-जोखा नहीं आंका जा सकता। राम ने भरत के लिए कितना त्याग किया ? अपने स्वार्थ को छोडे बिना त्याग नहीं किया जा सकता ? और स्वार्थ त्याग, यही संयम है, यही तप है। व्यक्ति परिवार के लिए त्याग करे, परिवार समाज के लिए त्याग करे, और समाज राष्ट्र के लिए त्याग करे, तभी जीवन-सागर में सुख, समृद्धि और आनन्द की लहरें तरंगित हो सकती हैं।

जैन धर्म की मूल भावना यह है, कि जो व्यक्ति अपने जीवन धन का स्वामी होकर रहता है, वही त्यागी कहा जा सकता है। इच्छा और वासना का दास क्या त्याग करेगा ? अपनी जिन्दगी में गुलाम बनकर चलने वाले के भाग्य में तो कदम-कदम पर ठोकरें खाना ही लिखा है। भगवान महावीर कहते हैं, कि "साधक तुम अपने जीवन के सम्राट बनो। अपने मन के राजा बनो।" जिसके जीवन में त्याग की चमक-दमक होती है, वही यथार्थ में मनो विजेता है। और जो मनो विजेता बन गया, वह अवश्य ही जगतो विजेता है। अपने को जीतकर सबको जीता जा सकता है, और अपने को हार कर सब को हारा जाता है, सन्त कबीर की वाणी में जीवन का यह परम सत्य उत्तरा है, कि "मन के हारेहार है मन के जीते

जीत।" जैन धर्म की यही प्रेरणा है, कि अपने जीवन के अधिष्ठाता बनो, दीन, हीन, दरिद्र नहीं।

मैं आपसे कह रहा था, कि जन-कल्याण के लिए जैन धर्म के पास यदि कोई भावना है, तो वह यही है, कि "मनुष्य तू अपने जीवन सागर में डुबकी लगा, और खूब गहरी लगा, पर सूखा का सूखा रह, गीला मत बन। जीवन जीने की यह कला यदि तूने प्राप्त करली, तो फिर निश्चय ही तू शालिभद्र है, धन्ना है, और है अनासक्त योगी जम्बूकुमार। भगवान महावीर के पास यही तो कला थी, कि वे स्वर्ण सिंहासन पर बैठ कर भी उसके चिपके नहीं। जल में रह कर भी जल से ऊपर कमल बने रहो। त्यागकी ज्योति जब साधक के अन्तर मन से प्रस्फुटित होती है, तब उसे स्वर्ग और स्वर्ग के सुखों की अभिलाषा नहीं रहती। उसका जीवन ही हजारों हजार पाप-तापित मानवों के लिए स्वर्ग बन जाता है। त्यागी स्वर्ग की कामना नहीं करता, उसका जीवन ही स्वर्ग मय हो जाता है।

पुराण सहित्य का एक सुन्दर रूपक है—"विष्णु ने बलिसे पूछा—बोलो, तुम्हें दो बातों में से कौनसी पसन्द है? सज्जन के साथ में नरक जाना, अथवा दुर्जन के साथ स्वर्ग जाना? बलि ने तपाक से कहा सज्जन के साथ नरक में जाना मुझे पसन्द है। क्यों कि सज्जन में नरक को भी स्वर्ग बनाने की अपूर्व क्षमता रहती है।

"मैं विचार करता हूं, कि ये स्वर्ग और ये नरक क्या है ? ये स्थान विशेष भी हो, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। परन्तु मैं कहता हूँ कि "मनुष्य का असंस्कृत मन नरक है, और संस्कृत मन स्वर्ग, बात को मैं व्यञ्जनात्मक भाषा में कह गया हूं। कारण यह है, कि किसी भी बात को गहराई से सोचने की मेरी आदत रही है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मुझे भी अपने श्रोताओं के विचार की सतह पर आना होगा। तभी आप मेरी बात को समझ सकेंगे।

आगम वाङमय में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है, कि "देव मर कर देव नहीं बनसकता और नारक मरकर नारक नहीं बन सकता।" परन्तु भगवती सूत्र के एकपाठ में यह भी आया है, कि "देव, देव ही बनता है और नारक, नारक ही बनता है"

मैं समझता हूँ, कि आपमें से कतिपय सज्जन यह सोचते होंगे, कि वीतराग एवं सर्वज्ञ की वाणी में इतना विरोध क्यों? पर, मैं कहता हूँ, कि यह विरोध तो अपनी बुद्धि का है, सर्वज्ञ की वाणी का नहीं। वह तो अपने आप में स्पष्ट तथा बिल्कुल सरल है। भगवान की वाणी का आशय यह है, कि "विकृत मन वाला मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में भी नारक है, और मरकर भी वह नारक ही बनता है और संस्कृत मन वाला मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में भी देव है, और मर कर भी देव ही बनता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि देवत्व और

नारकत्व स्थान-विशेष होते हुए भी मानव मन की स्थिति विशेष भी है। जैन धर्म का दिव्य सन्देश है, कि तुम अपने जीवन में देव बनो, नारक नहीं।" और देवत्व बनने का मार्ग है, त्याग सयम और तप।

मैं आपसे एक बात और कह देता हूँ, कि जैन संस्कृति का परम पवित्र पर्व पर्युषण आपके द्वार पर आगया है। आज तो वह द्वार पर ही है, पर कल से वह आपके सदन में भी प्रविष्ट हो जायगा, सदन का अर्थ आप अपने लाल भवन से ही न समझ लें, बल्कि वह आपके मनो मन्दिर में आजाना चाहिए। आज उसकी तैयारी का दिन है, और कल आप मुक्त हृदय से उसका नव्य एवं भव्य स्वागत करें। भगवान महावीर ने कहा है, कि काल की प्रतिलेखना करना साधक का परम धर्म है। काल प्रतिलेखना का अर्थ है, समय का ध्यान रखना" काले कालं समायरे।" सिद्धान्त का यही रहस्य है कि" साधक! तू अपना हर काम समय पर कर, प्रतिक्रमण के समय प्रतिक्रमण कर–स्वाध्याय के समय स्वाध्याय कर। साधक! तू समय का उपयोग कर। परन्तु काल की पूजा मत कर। काल पूजा का अर्थ है, काल में होने वाले कर्तव्य को भूल कर केवल जड़ काल के ही चिपके रहना। जिस समय जो कर्तव्य है, उस समय उसे करते रहो, उसका पूरा-पूरा ध्यान रखो, सावधानी रखो।

एक सज्जन ने मुझे पूछा –" महाराज आप यहाँ जयपुर में कब पधारे, और यहाँ पर कब तक रहेंगे।" उसे यह पता नहीं

कि वर्षा काल लगा है, और सन्त चार मास तक एक ही स्थान पर स्थित रहते हैं। काल की प्रतिलेखना करने वाला साधक अपने जीवन में इतना बेखबर नहीं रह सकता। अतः समय का सदुपयोग करना साधक का कर्तव्य है।

मैं अभी आप से पर्युषण पर्व की बात कह रहा था, कि उसके स्वागत के लिए तैयार रहो। आप कहेंगे, कि आता है, तो आने दो। पहले से ही तैयारी करने का क्या अर्थ? परन्तु जैनधर्म कहता है, कि साधना के क्षेत्र में साधक को सदा तैयार रहना चाहिए।

आपने सुना होगा, कि चक्रवर्ती की रसोई बनाने वाले रसोइये ३६० होते हैं। एक दिन की तैयारी के लिए प्रत्येक रसोइये को ३५९ दिनों तक तैयारी करनी पड़ती है, तभी वह अपने निश्चित दिवस पर चक्रवर्ती का भोजन तैयार कर सकता है। एक दिन के भोजन के लिए ३५९ दिनों की तैयारी चाहिए।

पर्युषण पर्व की तैयारी के लिए आपको कितने समय की अपेक्षा है, आप विचार करें। पर्युषण आत्म—साधना का महापर्व है। इन दिनों में आप कल्प सूत्र और अन्त कृत दशांग सूत्र सुनेंगे, जिनमें त्याग की भावना, सयम की साधना और तप की आराधना का भव्य एवं विस्तृत वर्णन है। उस भावना को आप अपने जीवन में उतारेंगे, तभी कल्याण होगा।

लाल भवन जयपुर } १२-१०-५५

: १४ :

दीप-पर्व

भारतीय जन जीवन सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पर्व-प्रवाहों का एक सुन्दर सुरम्य और सरस संगम स्थल रहा है। इस महा द्वीप के भव्य धरातल पर जितने मधुर पर्व-स्रोतों का प्रवाह प्रवाहित होता रहा है, अन्य देशों में वह दुर्लभ होगा। यहाँ पर होली, दिवाली, राखी, और विजय दशमी ये राष्ट्रीय पर्व माने जाते हैं। रामनवमी, कृष्णाष्टमी और वीर जयन्ती ये भिन्न-भिन्न युग की भिन्न-भिन्न संस्कृति के प्रतीक हैं। ऐसा विदित होता है कि भारत के क्रान्त दर्शी जन-नायकों ने अपने विशाल विचार और विराट चिन्तन के आधार पर अपने अपने युग की भावना के अनुरूप इन पर्व प्रवाहों का

सामाजीकरण करते समय भारत की कोटि-कोटि जनता आध्यात्मिक और दैहिक विकास का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। यही हेतु है कि यहाँ के प्रत्येक पर्व की पृष्ठ भूमि में किसी न किसी प्रकार से आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भावना को नत्थी कर दिया है। महापुरुषों के जीवन से सम्बन्ध पर्वों में आध्यात्मिक व सांस्कृतिक भावना नत्थी रहे, इसमें तो विस्मय की बात ही कौन सी है ? परन्तु, जन जीवन के पर्वों में भी यहाँ पर आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भावना अनुगत है।

प्रस्तुत दीपावली पर्व को ही लीजिए। यह पर्व एक विशुद्ध सामाजिक पर्व है। परन्तु इसका सम्बन्ध भी यहाँ की संस्कृति से यहाँ के धर्म से और एतद् देश प्रसूत अनेक महापुरुषों से जोड़ दिया गया है-या काल के महाप्रवाह में स्वतः ही जुड़ता चला गया है। और यह युक्त भी था। क्योंकि भारत की मूल चेतना के अनुसार धर्म, संस्कृति और दर्शन-जन-जीवन से कभी अलग नहीं रहा। मेरे विचार में यदि धर्म, दर्शन और संस्कृति-जन-जीवन में ओतप्रोत न होते तो आज का मानव, मानव के रूप में न होकर पशु-धर्मा के रूप में होता। मानव को मानवत्व प्रदान करने वाले धर्म, दर्शन और संस्कृति ही हैं। जो यहाँ के जन जीवन में अनुस्यूत होकर पर्वों के रूप में अभिव्यक्त होते रहे हैं।

मैं अभी आप से दीपावली के सम्बन्ध में कह रहा था कि यह पर्व भारतीय जीवन में सामाजिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप में युग-युग से चला आ रहा है।

आज के रोज भारत की जनता इस दीप पर्व को आनन्द, हर्ष, प्रमोद और उल्लास के पुण्य पलों में मना रही है। बच्चे बूढ़े, जवान सभी का दिल आज तरंगित है। नर और नारी आज विशेष सज्जा के साथ इस पुण्य पर्व की आराधना कर रहे हैं। किसी भी वर्ण का और किसी वर्ग का व्यक्ति हो आज तो सभी के हृदय में अपार प्रसन्नता भरी है। अर्थ— मानव जीवन का मुख्य आधार है, तन-मन से आज उसकी पूजा की जा रही है। लक्ष्मी यानी धन शक्ति की आज घर घर में आराधना हो रही है। धनी और निर्धन सभी आज विशेष वेश भूषा में सज्जित हैं और मधुर भोजन करेंगे। रहन-सहन और खान-पान सभी में आज विशेषता रहती है यही तो इस पर्व का सामाजीकरण है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्व है। वैदिक और जैन दोनों परम्पराओं से इसका प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। इस महादेश में प्रचलित अनेक जन श्रुति और अनेक जन प्रवाद भी इस बात के साक्षी हैं कि दीपावली-पर्व भारत का एक महान सांस्कृतिक पर्व है। इस पर्व की सांस्कृतिकता सिद्ध करने के लिए हमें सर्व प्रथम रामायण काल में प्रवेश करना होगा। वैदिक साहित्य के अनुसार राम अपने चतुर्दश वर्षीय वन निर्वासन की अवधि पूरी करके और लंका विजेता होकर जब अयोध्या वापिस लौटे तो अयोध्या के जन-जन में अपने आराध्य एवं मनोनीत देवता के स्वागतार्थ अयोध्या नगर को दीप पंक्ति के प्रकाश से भर दिया। तभी से यह भारत का

प्रकाश पर्व बन गया। जो युग-युग से रूपान्तरित होता हुआ आज भी जन-जन के मन-तन में उल्लास और हर्ष के रूप में जीवित है।

पौराणिक गाथा के अनुसार यह भी कहा जाता है कि जब नरकासुर के स्वच्छन्द उपद्रवों से और मन चाहे अत्याचारों से लोक जीवन संत्रस्त एवं भयभीत हो उठा तो तद्-युगीन लोकप्रिय नेता श्री कृष्ण ने उस पापात्मा की जीवन लीला का संहार कर दिया। वह दिन पौराणिक साहित्य में नरक चतुर्दशी के नाम से परिचित है। और अगले दिन श्री कृष्ण ने द्वारिका में प्रवेश किया, जिसके हर्ष और उल्लास में घर-घर में प्रकाश किया गया था। आज की भाषा में हम उस दिन को दीपावली कहते हैं। जैन परम्परा के अनुरूप इस पर्व से दो महान घटनाओं का सम्बन्ध है—प्रथम कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की यामिनी के चरमप्रहर में चरम तीर्थङ्कर महावीर का पावापुरी में परिनिर्वाण और द्वितीय गणधर गौतम इन्द्रभूति को केवलज्ञान। पावापुरी नगरी में एक साथ निर्वाण महोत्सव और कैवल्य महोत्सव होने से मानव और देवो के तन, मन और नयन में हर्ष उल्लास और आनन्द छागया। उस परम पावन दिवस की संस्मृति में आज भी भारत का जन जन पर्व पूजा करता है। श्रमण परम्परा के महान आचार्य जिन सेन ने अपने इतिहास ग्रन्थ हरिवंश पुराण में कहा है:—

"ज्वलत् प्रदीपालिकया प्रबुद्धया,
सुरासुरैर्दीपितया प्रदिप्त्या।
तदास्म पावा नगरी समन्ततः;
प्रदीपिताऽऽकाशतले प्रकाशते ॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्ष मादृशत,
प्रसिद्ध दीपालिकयाऽच भारते।
समुधतः पूजयितुं जिनेश्वरं,
जिनेन्द्र निर्वाण विभूति मुक्ति भाक ॥

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण होते ही पावा के मनुष्यों ने और स्वर्ग के देवों ने मिलकर दीपों का प्रकाश किया; जिससे पावानगरी जगमगाने लगी। तभी से भारतवर्ष की कोटि-कोटि जनता हर साल अपने-अपने घरों में, नगरों में, श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रकाश करके अपने आराध्य भगवान् का संस्मरण करती है। लोक भाषा में इस दिवस को दीपावली कहते हैं।

दीपावली के साथ राम, कृष्ण और महावीर का सम्बन्ध तो है ही, लेकिन आज के युग के प्रसिद्ध संन्यासी रामतीर्थ और दयानन्द सरस्वती के महाप्रयाण से भी इसका सम्बन्ध है। अनेक परम्पराएं इस पर्व में समाहित हो जाती हैं। अनेक धर्म, अनेक संस्कृति और अनेक परम्पराओं का संगमस्थल होने से यह पर्व भारत का एक महान् सांस्कृतिक पर्व है। भारत के पर्व पुञ्ज में दीप-पर्व की पूजा भारत के सांस्कृतिक जन-जीवन की एक मधुर कल्पना है। किसी भी पर्व को लोक प्रियता

मिलती है तब, जब कि उस पर्व की मंगल भावना से लोक जीवन भावित होता है। पर्व के पुण्य पलों में जागतिक जीवन और वैयक्तिक जीवन आशा और उल्लास से भर-भर जाता है। मानव मन की आन्तरिक चेतना की अभिव्यक्ति के प्राणवन्त प्रतीक हैं- भारत के ये सांस्कृतिक पर्व। ये पर्व जन जीवन में संजीवनी पवन की तरल लहरों की तरह आते हैं, और गुलाबी आशा व धवल उल्लास की रजत रश्मि बिखेर कर लोक जीवन में अखूट और अटूट ताजगी भर जाते हैं। कोटि-कोटि जनों के मन और तन को संस्कृति के एक ही परम पवित्र सूत्र में बांध रखना-यही इन पर्वों का सांस्कृतिक महत्त्व है।

अब जरा इस पर्व की आध्यात्मिकता के पहलू पर भी थोड़ा विचार करलें। मैं आप लोगों से अभी कह गया हूं कि ये दीपावली पर्व भारत का एक लोकप्रिय और महान् पर्व है। इसका समाज संस्कृति और आत्मा—इन तीनों से गहरा सम्बन्ध रहा है। इस पर्व के सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व के सम्बन्ध में पर्याप्त कह गया हूँ। दीप-पर्व की पृष्ठ भूमि में भारत के विराट चिन्तकों का आध्यात्मिक दृष्टि कोण क्या रहा है ? इस विषय में भी विचार करना आवश्यक है।

राम की रावण पर विजय का अर्थ है भौतिक सत्ता पर आध्यात्मिक बल की विजय। लंका विजय का भी आध्यात्मिक संकेत यही है, कि वासना रूपी लंका पर सुसंस्कृत मनोरूप राम ने आधिपत्य कर लिया।

कृष्ण ने नरकासुर का वध किया। आसुरी भावना पर दैवी भावना की विजय। नरकासुर दैत्य आसुरी शक्ति का प्रतीक है, और कृष्ण आध्यात्मिक बल के प्रतीक। मानव के मनो राज्य में जब आसुरी भावना का आवेग बढ़ता है, तब मानव के अन्तर मानस में छुपे हुए दैवी भावों का उत्पीड़न होता है। दिव्य भावों की प्रसुप्त अपार शक्ति को जागृत करना ही आध्यात्मिक भाषा में नरकासुर का वध होना कहा गया है।

पौराणिक रूपक के अनुसार देव और दानवों ने समुद्र मंथन किया, जिसके फलस्वरूप चौदह रत्न उपलब्ध हुए, जिनमें एक रत्न लक्ष्मीजी थी। आत्मा एक सागर है। मनोभूत दुर्वृत्तियां और सद्वृत्तियां—दानव और देव हैं, जिनके परि-मंथन से आध्यात्मिक शक्ति रूप लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। भारतीय जनश्रुति के अनुसार यह समुद्र मंथन कार्तिक अमावस्या को परिपूर्ण हुआ था, उसकी स्मृति में यह दीपावली पर्व मनाया जाता है।

उपनिषद् काल के महामनीषी ऋषि ने इसको "ज्योति-पर्व" की संज्ञा से सम्बोधित किया है। और कहा—"तमसो मा ज्योतिर्गमय"। अंधकार से प्रकाश में चलो। यह पर्व प्रकाश पूजा का महा-पर्व है।

जैन संस्कृति की मान्यता के अनुरूप-अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के अमर अधिदेवता महा मानव भगवान् महावीर के परिनिर्वाण पर नव काशिराज और नव मल्लिक राजाओं ने करुण स्वर में कहा " मर्त्यलोक का भावालोक

चला गया, अब द्रव्यालोक करो।" कार्तिक बहुला अमावस्या की यामिनी के चरम प्रहर में दो महान् घटनाएं घटित हुईं- वीर परिनिर्वाण और गौतम कैवल्य। निर्वाण महोत्सव और कैवल्य महोत्सव के हर्ष प्रकर्ष में से ही दीप-पर्व आविर्भूत हुआ। अपने मन के अनन्त-अनन्त काल के अंधकार को सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के आलोक से दूर करो। यही इस पर्व का जैन दृष्टि से आध्यात्मिक महत्त्व है।

इस प्रकार यह दीपावली पर्व या दीप-पर्व भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावना का महाप्रतीक तथा महा संकेत है। समाज, संस्कृति और आत्म-भाव के सुमेल का सुन्दर त्रिवेणी-संगम-स्थल रहा है।

लाल भवन, जयपुर } १३-११-५५

: १५ :

वर्षावास की पूर्णाहुति

आज चातुर्मास की समाप्ति की चतुर्दशी है। सन्त जीवन का एक दिन वह था जिस दिन वह वर्षा वास करने यहां जयपुर में आये थे, और आज वर्षा वास की पूर्णाहुति का दिवस है।

भारत की संस्कृति आरम्भ की अपेक्षा अन्त को अधिक महत्व पूर्ण समझती है। आरम्भ में मिठास हो, मान हो, पर अन्त मधुर अवश्य ही होना चाहिए अन्त का माधुर्य जीवन भर याद रहता है। यहां आने की अपेक्षा जाने का अधिक महत्व आंका गया है, स्वागत की अपेक्षा विदा का महत्व भारतीय संस्कृति में गौरव पूर्ण रहा है। सन्त के जीवन की सफलता स्वागत समरोह से नहीं आंकी जानी चाहिए, बल्कि

उसके जीवन की यथार्थ सफलता उस समय देखी जानी चाहिए जब वह आपके नगर से विदा हो रहा हो। आपके जन जीवन से दूर होने की तैयारी कर रहा हो। अपरिचय की स्थिति में माधुर्य रखना सरल है। जब कि परिचय के परिपाक काल में माधुर्य भावना रख सकना कठिन है।

कहा जाता है, कि एक जंगल में एक साथ दो सिंह कभी नहीं रह सकते। एक राज्य में एक साथ दो राजा प्रशासन नहीं कर सकते। सन्त जीवन के सम्बन्ध में भी आज के युग की यही धारणा बन चुकी है, कि एक ही क्षेत्र में एक साथ दो परम्पराओं के सन्त नहीं रह सकते हैं। किसी कारण वश यदि एकत्रित हो भी जाएँ, तो बिना लड़े, बिना झगड़े क्षेत्र से निकलना कठिन है। पर मैं विचार करता हूँ कि हम यहाँ पर आज एक ही श्रमण संघ के होने पर भी भूतपूर्व न्याय से चार परम्पराओं के सन्त एकत्रित हुए थे। एक-दो रोज नहीं, मास दो मास नहीं, पाँच-पाँच मास हम आप के जयपुर में रहे हैं। आज के युग की भावना के विपरीत हम सन्तों में कितना प्रेम, कितना स्नेह और कितना सद्‌भाव रहा है! लघु सन्तों ने महान सन्तों की सेवा की है, भक्ति की है और महान सन्तों ने भी लघु सन्तों पर निरन्तर कृपा की वर्षा की है। इतने लम्बे काल में एक भी प्रसंग ऐसा नहीं आया, जब कि किसी अमुक श्रावकजी को समझौता कराने के लिए चौधरी बनने का सौभाग्य मिला हो, या किसी प्रकार की शिकायत करने का अवसर मिला हो।

संयुक्त वर्षा वास की प्रेम पूर्ण परम्परा में जिन को मनो-मालिन्य की गन्ध आती हो, या फिर मिल-बैठने की सामाजिक भावना से जिन को रस नहीं है ।,-जयपुर का संयुक्त वर्षा वास उन लोगों की भावना के विपरीत एक चुनौति है, एक भावनामयी प्रेरणा है । यह कोई नई परम्परा भी नहीं है । यह तो मानवता के स्वर्णिम इतिहास में चिर काल की सामाजिक व कौटुम्बिक भावना है । मनुष्य के अन्तस की सहिष्णुता और समता की कसौटी है । एक जगह मिल-बैठना सन्तों का सहज स्वभाव है । मैं आप से कह रहा था कि एक जंगल में दो सिंह नहीं रह सकते, और एक राज्य में दो राजा राज्य नहीं कर सकते किन्तु मै कहता हूं कि एक नगर में और एक स्थान में अनेकों सन्त रह सकते हैं, यदि वे वस्तुतःसन्त हो, तो? और यदि सन्त संस्कृति की परम पवित्रता में उन्हें विश्वास हो,तो ?

भारत के स्नेहिल जन जीवन का एक जीवन सूत्र हैं, कि" मधुरेण समापयेत ." हर काम के अन्त में मिठास हो, प्रत्येक कार्य की समाप्ति मधुर हो । यही जीवन की सार्थकता और सफलता का रहस्य है ।

एक राजा की राज सभा में विद्वान आया । राजा ने देखा पर आदर सत्कार कुछ भी नहीं किया । बैठने को आसन तक भी नहीं दिया गया । आगन्ता विद्वान की वेष भूषा सामान्य थी, आकृति भी सुन्दर और प्रभावक नहीं थी । राजा ने रूक्ष स्वर में पूछा -" कौन हैं, आप ?" कहाँ से आए हैं ! विद्वान

ने अपना एक लघु परिचय दिया, और विद्वानों की विचार चर्चा में जुट गया। विचार चर्चा जैसे लम्बी होती गई, तैसे तैसे आगन्ता विद्वान का व्यक्तित्व भी निखरता गया। विद्वान् की वाणी से राजा अत्यन्त प्रभावित हो गया। विद्वान् के विचार-चिन्तन से राजा के मन का अनादर आदर-सत्कार में बदल गया। जब विद्वान् राज सभा से उठकर जाने लगा तो राजा को अपनी भूल का भान हुआ, कि मैंने इस विद्वान को बैठने के लिए योग्य स्थान और आसन भी नहीं दिया। फिर भी विद्वान के मुख मण्डल पर रोष की क्षीण रेखा तक भी नहीं। [illegible] न बुद्धि से ही ऊंचा नहीं, बल्कि हृदय से भी महान है, उदार है।

राजा उस विद्वान की वाणी से और ज्ञान गरीमा से इतना प्रभावित हुआ, कि उसे यह भान तक नहीं रहा, मैं नंगे पैरों कितनी दूर तक इस विद्वान को विदा देने के लिए आ पहुंचा हूँ, विद्वान ने मधुर स्वर में कहा–"राजन, अब आप लौट जाएं काफी दूर आगए हैं। राजा ने विनीत भाव से कहा –"आप के गुणों का प्रभाव और वाणी का जादू मुझे लौटने नहीं देता। विद्वान ने कहा–राजन्, जब मैं आया था, तब आपने जरा भी आदर नहीं दिया, और अब आप मुझे छोड़ भी नहीं रहे हैं। मैं वही हूं, और आप भी वही हैं। फिर इतना अन्तर क्यों! राजा ने कहा—"आते समय व्यक्ति का जो आदर-सत्कार किया जाता है, वह उसकी वेश-भूषा और

सुन्दर आकृति के कारण होता है। आप में उन दोनों का अभाव था। परन्तु, जाते समय व्यक्ति का जो आदर-सत्कार होता है, वह उस के गुणों के कारण होता है, उसकी आप में कमी नहीं है। बुद्धि का प्रकर्ष तो आप में है ही, परन्तु शील शान्ति और सन्तोष भी आप में विशेष रूप में प्रकट है। आप की वाणी के माधुर्य का तो कहना ही क्या।

भारत की संस्कृति गुण पूजा का महत्व देती है, व्यक्ति पूजा को नहीं। व्यक्ति अपने आप में कितना भी बड़ा क्यों न हो ? उस की महानता के आधार धन, सत्ता जाति और सम्प्रदाय नहीं बन सकते। गुणवान व्यक्ति ही वस्तुतः यहां पर आदर-सत्कार और पूजा का पात्र होता है, आचार्य चाणक्य ने अपने नीति ग्रन्थ में कहा है—

"स्वदेशे पूज्यते राजा,
विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।"

आपके जयपुर नगर में जो सन्त और सती विराजित रहे हैं, उनके साथ आपका जाति और कुल का क्या सम्बंध है ! परन्तु मैं समझता हूँ, इस सम्बन्ध से भी बढ़कर एक पवित्र सम्बन्ध है, धर्म का और गुण पूजा का। श्रमण परम्परा में नमस्कार गुणों को किया जाता है, व्यक्ति विशेष को नहीं। सन्त में यदि सन्त के गुण हैं, तो वह आप की भक्ति का, आप की श्रद्धा का और आप की सेवा का सहज ही पात्र बन जाता है।

: १६ :

हरिजन दिवस

भारत के विचार प्रवण मस्तिष्कों ने चिरकाल से मानव जीवन का विश्लेषण किया है, विवेचन किया है और पता पाने का चिर प्रयास किया है, कि वास्तव में मानव अपने आपमें क्या वस्तु है? भारतीय मनीषियों की परिभाषा के अनुकूल मानव में मर्त्य और अमृत का संमिश्रण है, संयोग है। मनुष्य का शरीर मर्त्य और आत्मा अमृत भाव है। उनका मर्त्य भाग उसे पार्थिव विश्व के साथ जकड़े हुए हैं। मनुष्य के भीतर एक दैवी तत्व भी है, जिसे अमृतत्व कहा है। मनुष्य का देह भाग पञ्चभूतात्मक है, और अमृत भाग सदा शाश्वत है मानव अपने आपमें एक ओर देह हैं तो दूसरी ओर शुद्ध आत्म तत्व भी।

भारत के सभी धर्म सभी दर्शन और सभी संस्कृति मानव के मानवत्व का मूल्यांकन जाति कुल के आधार पर नहीं गुण और कर्म के आधार पर ही करते हैं। कम से कम भारत की श्रमण परम्परा तो जीवन की पवित्रता के आधार पर ही मनुष्यत्व का मूल्यांकन करती है। जाती और कुल को माध्यम बनाकर नहीं।

मेरे विचार में मनुष्य का मूल्य उसके पञ्चभौतिक देह से नहीं बल्कि वह अपने जीवन में स्वयं क्या बन रहा है- इसे देख कर ही मनुष्य के जीवन का मूल्य सही रूप में आंकना होगा मेरी दृष्टि में तो महाजन और हरिजन दोनों मानव हैं। दोनो में परस्पर सद्भाव और सहयोग की आवश्यकता है। दोनों में ऊँच और नीच की कल्पना एक भ्रान्त भावना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आप जरा मेरी बात पर गंभीरता से विचार तो कीजिए "ब्राह्मण क्षत्रिय महाजन और हरिजन इन सब का शरीर पंचभूतात्मक है कि नहीं? ब्राह्मण का शरीर स्वर्ण का हो क्षत्रिय का का शरीर रजत का हो महाजन का देह लौह का हो और हरिजन का देह मिट्टी का हो यह बात तो सही नहीं है न? अन्ततो गत्वा ये समस्त शरीर हाड मांस रक्त और मज्जा से ही निर्मित है। सब के अन्दर मल मूत्र और गंदगी का ढेर ही तो है न? फिर तीन वर्ण पवित्र और एक अपवित्र इसका मूलभूत आधार क्या?

जैसी भूख और प्यास अभिजात्य वर्ग को सताती है वैसी

हरिजन को भी। दुख सुख की जैसी अनुभूति सवर्ण कहे जाने वाले लोगों को होती है, वैसी, अस्पृश्य कहे जाने वाले को भी। एक नीच और शेष ऊँच इसका कारण क्या ? हाड मांस और रक्त में जात पांत नहीं होती। वह तो मनुष्य मात्र के शरीर में एक ही रूप का बहता है। आंसुओं में भी जात पांत नहीं होती जैसे खारे आंसु ब्राह्मण के हैं वैसे ही एक हरिजन के भी। मनुष्य जन्म से ही ललाट पर तिलक व गले में जनेऊ पहन कर नहीं आता — ये सब मनुष्य की कल्पना से प्रभूत है। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य जाति व कुल से कभी महान नहीं होता उसकी महानता के अमर आधार हैं, सत्कर्म, पवित्र भावना, और शुभ संकल्प। श्रमण परम्परा का यह जोरदार दावा है कि अहिंसा संयम और तप की साधना करने वाला कभी क्षुद्र शूद्र व नीच नहीं हो सकता। आत्मा की समुज्वलता के समक्ष देह की मलिनता कोई गणना नहीं। मन पवित्र है तो तन की मलिनता कोई विशेष महत्व नही रखती। एक भारतीय तत्ववेत्ता इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहता है —

"अत्यन्त मलिनो देहो,
देहीत्वत्यन्त निर्मलः।"

देह भले ही मलिन हो, परन्तु देह वाला आत्म-देव कभी मलिन नही होता। वह तो अपने आपमें अत्यन्त निर्मल है, पवित्र है। भारत का दर्शन भारत का धर्म और भारत की संस्कृति कभी देह पूजा की बात नही कहती, वह जब कभी भी कुछ कहती

सुनती है तब आत्म — पूजा की बात कहती है। आत्म तत्व की मलिनता अवश्य ही भारत के विचार शीलमानस के लिए गहरी चिंता का कारण हो सकता है, परन्तु देह की मलिनता उसके लिए कभी खतरे का बिन्दु साबित नही हो सका। कारण स्पष्ट है, कि भारत की संस्कृति देह को नही देही को ही महत्व देती है। आत्मा अत्यन्त निर्मल है, जैसा महाजन शरीर में, वैसा हरिजन देह में।

श्रमण विचार धारा आत्मा के सम्बन्ध में यह धारणा लेकर चली है, कि आत्मा के तीन रूप हैं— प्रकृति, विकृति और संस्कृति"। आत्मा मूल रूप में शुद्ध है, पवित्र है, निर्मल परन्तु कषायों के संयोग से उस में विकृति आई है। उस विकृति को दूर करने का प्रयत्न ही संस्कृति अथवा साधन है। आचार्य नेमिचन्द्र कहता है कि सव्वे सुध्दाह सुध्दनया।" कीट पतंग से लेकर समस्त जीव सृष्टि शुध्दनय से निर्मल व पवित्र है। शुद्धनय की अपेक्षा से संसारी आत्मा में और सिद्ध की आत्मा में कोई भेद नहीं, कोई अन्तर नही। फिर ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और हरिजन में भेद कहां से टपक पड़े है। जब आत्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं तो भौतिक शरीर में विभेद की रेखा कैसे खींची जा सकती है। आत्मा मूल स्वरूप में प्रकृत है, कषाय एवं विषय के संयोग से विकृत बना हुआ है, उसे संस्कृत करना यही मानव जीवन का ध्येय है। यह जीवन संस्कृति, जीवन साधना, और जीवन

का कोई नैसर्गिक भेद नहीं है। वह मृण्मय पिण्ड आत्म देव का मन्दिर है। वह अपने आपमें पवित्र या अपवित्र नही है। पवित्रता और अपवित्रता का मौलिक आधार आचार की शुद्धता और आचार की अशुद्धता ही है।

इस प्रसंग में मैं आप को भारत के एक महान दार्शनिक सन्त के जीवन का एक सुन्दर संस्मरण सुना देता हूँ।

आचार्य शंकर गंगाकी पावन धारा में स्नान करके लौट रहे थे मार्ग में एक चाण्डाल मिल गया जिस मार्ग से आचार्य लौट रहे थे' वह एक तंग गली थी। बिना स्पर्श के एक साथ दोनों मनुष्य नही जा सकते थे। आचार्य के समक्ष धर्म संकट आ गया आचार्य ने रोष के स्वर में कहा "दूर हट, चाण्डाल! दूर हट। मैं स्नान करके आया हूं चाण्डाल ने विनम्र स्वर में, पर विचार सागर की गहराई में पहुंच कर कहा —

अन्नमय दन्न मय
मथवा चैतन्यमेव चैतन्याद्।
द्विजवर! दूरी कर्तुं वाञ्छेसि किम्?
किं गच्छ गच्छेति॥

द्विज श्रेष्ठ! तुम मुझे दूर हटने को कह रहे हो! पर जरा विचार तो करो। दूर हटने वाला है कौन? तुम मेरे शरीर के स्पर्श से यदि भय भीत हो, तो जैसा अन्नमय देह आपका है, वैसा ही मेरा। यदि मेरी आत्मा को दूर हटाना चाहते हो, तो यह भी विचार आपका संगत नही क्यों कि जैसा चैतन्य

आपकी देह में खेल रहा है, वैसा का वैसा ही चैतन्यदेव मेरे इस अन्नमय शरीर में भी खेल रहा है । फिर हटने की बात किससे कहते हो ?

चाण्डाल की अध्यात्म भाषा में कथित अध्यात्म- वाणी को सुनकर आचार्य शंकर केवल एक तार्किक की भांत प्रभावित ही नहीं हुए बल्कि गद् गद् हृदय हो कर बोले —

"चाण्डालोऽस्तु सतु द्विजोऽस्तु:
गुरुरित्येषा मनीषा मम ।"

तू चाण्डल हो या द्विज हो ! कुछ भी क्यों न हो परन्तु यह सत्य है कि तू मेरा सच्चा गुरु है, मार्ग दर्शक है। तेरी देह में मुझे आज विश्वात्मा का पुण्य दर्शन हुवा है। तेरा यह कथन सत्य है, कि यह शरीर सबका अन्नमय है, परन्तु इसमें रहने वाला आत्मा, चैतन्य देव भी सबका समान ही है।

मैं आप से कह रहा था, कि श्रमण परम्परा का पवित्र द्वार मानव मात्र के लिए सदा खुला है। श्रमण संस्कृति देह या आत्मा की दृष्टि से भी किसी को हीन या अपवित्र नहीं समझती। वह जन्म को नहीं, कर्म को महत्व देती है। जैन धर्म के भव्य सिंह द्वार में किसी भी देश का, किसी भी जाति का और किसी भी कुल का मनुष्य बेखटके प्रवेश पा सकता है। क्योंकि जैन धर्म के द्वार पर किसी का भी जाति और कुल नहीं पूछा जाता। वहाँ पूछा जाता है, उसका सत्कर्म, सदाचार

और जीवन की पवित्रता व निर्मलता। वहाँ धन, सत्ता और वैभव की पूछ नहीं है। वहाँ तो हर किसी इन्सान से एक ही सवाल पूछा जाता है, कि अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह में तुम्हारा विश्वास है, कि नहीं। तुम्हारे धर्म स्थानक में कोई भी हरिजन भाई बे खटके और बे रोक टोक आसकता है, वहां आकर धर्म आराधना व साधना कर सकता है।

हाँ, मुझे एक बात अवश्य कहनी है। भले ही वह आपको कटु लगे, क्योंकि सत्य सदा कटु ही रहा है। आज आप यहां हरिजन दिवस मना रहे हैं। आज हरिजन भाई बड़ी संख्या में उपस्थित भी हैं। उन्हें मैं यह चेतावनी देता हूं कि उनका उद्धार व उनकी समस्या का हल बाहरी प्रचार से नहीं अपने अन्दर के पवित्र आचार व विचार से ही होगा। सुरा और मांस का वे त्याग करें। सदाचार सद्भाव और स्नेह से रहना सीखें शिक्षा और दीक्षा के पवित्र मन्त्रों से अपने मन को शुद्ध बनाते रहें।

आप लोग सवर्ण लोगों से अस्पृश्यता को दूर करने की मांग करते हो। परन्तु मैंने सुना है कि आप लोगों में भी परस्पर कठिन छुआ छूत की भावना मौजूद है। इन छोटे मोटे घेरों को तोड़ कर विराट बनो। इसी में आप की समस्या का हल है, इसी में आप सब का कल्याण है। पवित्र भावना को जीवन में उतारना, यही हरिजन दिवस मनाने का सच्चा उद्देश्य है।

हरिजन दिवस १२०

आज कार्तिक पूर्णिमा है। पंजाब के महान सन्त गुरु नानक की आज जयंति है। आज पूर्णिमा है। जैन संस्कृति और जैन साहित्य के तेजस्वी एवं मनस्वी आचार्य हेमचन्द्र की जयन्ति है। आज पूर्णिमा है, महाप्राण, धर्मवीर, क्रान्तदर्शी लोंका शाह का आज जन्म दिवस है। हरिजनप्रिय ठक्कर बापा का भी आज जन्म दिन है। आज पूर्णिमा के दिन हजारों - लाखों लोग गंगा यमुना व पुष्कर आदि तीर्थों में पवित्र बनने की भावना से स्नान कर रहे हैं। इस प्रकार के स्नान से आत्म शुद्धि होती है कि नहीं। यह एक विचारणीय प्रश्न है परन्तु आज की इस विचार गंगा में यदि आपका मन गहरी डुबकी मार सका, तो निश्चय ही वह पवित्र शुद्ध और निर्मल हो सकेगा।

लाल भवन जयपुर, } २६-११-५५

: १७ :

वर्षावास की विदा

आशा मानव मन का ज्योतिमय दीपक है। आशा का दीपक प्रज्वलित कर के ही संसार में जीवित रहा जा सकता है। जिसके मानस में आशा-दीप सतत जलता रहता है, वह कभी खेद-खिन्न नहीं होता। एक कवि की वाणी में "आशा गुलाब की सुरभित एवं सुन्दर खिली कली के समान है, जिसे देखकर द्रष्टा के मन में सौन्दर्य की भावना भर जाती है। यह हुआ आशा का भावना पक्ष। विचार पक्ष की दृष्टि से भी मानव जीवन में आशा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। आशा क्या है? इस प्रश्न के समाधान में एक विद्वान ने कहा 'आशा, जीवन की परिभाषा है।" मानव जीवन की व्याख्या

के श्रीमुख से सुना है। साधक के लिये आशा का कितना महान दिव्य सन्देश है इसमें, निराशा के घोर अंधकार से घिरा हुआ मन भगवान् की दिव्य स्तुति को सुनते ही आध्यात्मिक दिव्य जीवन की आशा के महाप्रकाश में जगमगाने लगता है। वह भक्त कवि सन्त नहीं था, एक श्रद्धाशील श्रावक ही था, पर उसकी वाणी में कितना माधुर्य है। कितना स्वारस्य है? कितना आकर्षण है? भौगोलिक क्षेत्र से भले वह राजस्थान का ही क्यों न हो? परन्तु भावना और विचार के क्षेत्र से उसकी वाणी के अन्तर्नाद का प्रसार गुजरात, मालवा, महाराष्ट्र और पंजाब की सुदूर सीमा में भी जा झंकृत हुआ है। और सर्वत्र भक्त से भगवान होने का शुभ संकेत साधक के लिए एक आशाप्रद दिव्य धाती है।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—" श्रमण हो, या श्रावक जो अन्तर मन से धर्म की साधना करता है, वह वस्तुतः महान् है। संयम, सदाचार और अनुशासन की मंगलमयी भावना में प्रवाहित होने वाला साधक ऊँचा है। भगवान् के धर्म में जाति, कुल और सम्प्रदाय का कोई महत्व नहीं, वहाँ तो साधक की साधना का महत्व है। श्रमण परम्परा में जाति की पूजा नहीं, संयम और सदाचार की पूजा की जाती है। भगवान् महावीर से पूछा गया—भंते! चार वर्ण कौन से हैं? वहां उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण नहीं बतलाए, बल्कि स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि-

श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये ही चारों वर्ण हैं। इनमें कहीं भी क्षुद्रता और महानता का भेद नहीं है। समत्व योग की साधना ही जैन संस्कृति का प्राण तत्व है। मनुष्य का कल्याण जाति, सम्प्रदाय और पन्थों में नहीं उसका कल्याण तो पवित्र भावना में है। जो पवित्रता के पन्थ पर चलता है, वह अवश्य ही कल्याण का भागी है।

रेगिस्तान में कोई हरा-भरा और छायादार वृक्ष हो तो दूर-दूर के यात्री भी उसकी छाया के आकर्षण से खिंचे चले आते हैं। उसकी शीतल छाया में थका-मांदा और अताप तापित मनुष्य सुख और शांति का अनुभव करता है। आने-जाने वाले यात्रियों के आकर्षण का वह घटादार वृक्ष एक सुरम्य केन्द्र बन जाता है। उस वृक्ष की टहनी को यदि कोई तोड़ डालता है, तो द्रष्टा को कितनी पीड़ा होती है। किन्तु नीरस हो जाने पर या सूख जाने पर टूट-टूट कर गिरना ही उसके भाग्य में बदा होता है। नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के अतिरिक्त उसकी कोई अन्य स्थिति शेष नहीं रहती।

परिवार, समाज और संघ भी अपने आप में एक हरे-भरे, घटा दार और छाया दार वृक्ष हैं। स्नेह और सद् भाव के शीतल एवं मधुर जल से इन का सिंचन होना चाहिए, तभी ये हरे-भरे रह सकते हैं। घटा दार और छाया दार रह सकते हैं। संघ संघटित हैं, हरे-भरे हैं, जिनकी जड़ें मजबूत हैं, उन की शीतल छाया में कभी सन्त भी आ सकते हैं कभी सद-

र्धी भाई भी आ सकते हैं, और कभी अन्य नागरिक भी वहां आश्रय पाकर सुख, शांति का अनुभव कर सकते हैं। और यदि ये दुर्भाग्य से स्नेह शून्य हो गए, सूख गए तो फिर टूट-टूट कर गिरना ही उनके भाग्य में लिखा होगा। विनाश और ह्रास की कहानी तो उनके जीवन में शेष रहती है। इस स्थिति में वहां निराशा का घोर अंधकार ही मिलेगा, आशा का स्वर्णिम प्रकाश नहीं। अभी मैं आपसे कह रहा था, कि मानव जीवन में आशा का बड़ा महत्व है। आशा जीवन है, और निराशा मृत्यु। दूसरों को जो आशा का प्रकाश देते हैं, उन्हें ही आशा का दिव्य प्रकाश मिल सकता है।

आपके संघ में स्नेह और सद्भाव बहु व्यक्ति होनी चाहिए, कि आप अपने सधर्मी भाइयों की भी सेवा कर सकें। आपके इस जयपुर क्षेत्र में पंजाब के बहुत से सधर्मी श्रावक आए हैं, उनका ध्यान रखना आपका कर्तव्य है। सहधर्मी बन्धु किसी भी देश का हो, किसी भी जाति का हो, वह आपका धर्म बंधु है। उसे धर्म साधना में सहयोग देना आपका सर्व प्रथम कर्तव्य है। स्वयं धर्म में स्थिर रहना और दूसरों को स्थिर रखना, यह श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। संघ के प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

मैं आपको एक बात और कह देना चाहता हूं, कि सन्त एक मधुकर है, संत एक भ्रमर है। जहां सुरभि और रस

मिलता है, वहां वह अवश्य ही आस-पास के वातावरण को अपने सुमधुर गुंजार से झंकृत करता हुआ जा पहुँचता है। संघ को वह पुष्प बनाना चाहिए, जिस में मधु और सुरभि दोनों हों, सन्त मधुकरों का विना किसी निमंत्रण आमन्त्रण के स्वयं ही श्रद्धाशील संघों का आकर्षण होता रहे। सन्त गुण ग्राही होता है। संघ में जो सद् गुण हैं, श्रद्धा, भक्ति और सद् भाव हैं, उनको वह पवन की भांति दूर-दूर लेजा कर फैला देता है। आपके जयपुर संघ की जो श्रद्धा, भक्ति और सेवा है, उसे हम भूल नहीं सकते। मैं अस्वस्थ होने के कारण आपकी विशेष ज्ञान-सेवा नहीं कर सका। इस बात का मुझे अवश्य विशेष विचार रहा है। किन्तु मैं तो आशावादी हूँ, और आप को भी आशावादी होने की सतत प्रेरणा देता रहा हूँ। सन्त जन धना सम्पत्ति के नहीं भावना के भूखे होते हैं। आपकी भावना में आकर्षण रहा, तो जाने वाले सन्त भी आप से दूर नहीं रह सकेंगे।

आपके यहां वर्षावास में मैं बहुत ही अल्प प्रवचन कर पाया हूँ, क्यों कि अस्वस्थ रहा हूँ। फिर भी जो दे पाया हूँ, वह मुक्त हृदय से सत्य की परख के रूप में दिए हैं। मैं अपने विचार व्यक्त करते समय एक मात्र सत्य की निष्ठा का ही ध्यान रखता हूँ। अतः मेरे विचार कभी-कभी श्रोताओं के पूर्वाग्रहों से ग्रस्त अन्तर मन में सहज रूप में प्रवेश नहीं कर पाते। विचार भेद मत-भेद के रूप में तन कर खड़े हो जाते हैं। किन्तु एक बात मैं स्पष्ट कह देता हूँ, कि मत-भेद भले ही हो' परन्तु मनो-

भेद नहीं होना चाहिए। विचार चर्चा कितनी भी गर्म क्यों न हो, परन्तु मन गर्म नहीं होना चाहिए। जीवन का यह सत्य तथ्य पा लिया, हो फिर किसी प्रकार का भय नहीं रहता। आप और हम सब आनन्द के मधुर क्षणों में अपनी धर्म साधना कर सकेंगे।

गुलाब निवास, जयपुर }

द्वितीय खण्ड

श्रमण संघ

: १ :

"भिक्षा कानून और साधु समाज"

जैन धर्म नम्रता सिखाता है, दीनता नहीं। वह एक बहुत बड़ा त्याग का आदर्श स्थापित करता है। त्याग जैन धर्म का मूल भूत सिद्धांत है। लोक में एक कहावत है:—

"अनमिली के त्यागी, स्त्री मरी भये बैरागी"।

जैन धर्म इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह तो त्याग की अन्तरंग से प्रेरणा देता है। वह मानव को जीवन सिखाता है, भिखमंगापन नहीं। मन में त्याग की भावना न हो, और ऊपर से त्यागी बना रहना–इस बात को जैन धर्म कदापि पसंद नहीं कर सकता। वह जीवन को तेजस्वी बनाता है, निस्तेज और प्राणहीन नहीं।

हजारों वर्ष की दासता के बाद आज भारत स्वतन्त्र हो चुका है। भारत की धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति तेजी से बदल रही है। फलतः स्वतंत्र भारत में भिक्षावृत्ति को मिटाने के लिये बड़ी दौड़ धूप चल रही है। बम्बई में, यह कानून लागू भी हो चुका है।

इसके विरोध में साधु समाज में बड़ी हल—चल मची हुई है। भविष्य में हमारा क्या होगा? जीवन की इस भावी चिन्ता से साधु समाज आकुल—व्याकुल सा हो रहा है। समाज इस चिन्ता को दूर करने के लिये धन एकत्रित कर रहा है। वकील बैरिस्टरों का मुंह थैलियों से भर कर वह, यह कहलाना चाहता है कि उक्त कानून जैन साधुओं पर लागू नहीं होता।

परन्तु मेरा मन इस से दूर, बहुत दूर है। वह इस चीज का विरोध करता है। हमें अपनी समस्या को स्वयं सुलझाना है। साधु समाज को अपना प्रश्न अपने आप हल करना है। आज का जैन साधु पर्दे की रानी बन चुका है। उस के पर्दे की रक्षा के लिये समाज ढाल बन कर आगे बढ़ता है। किन्तु रक्षा का यह ढंग कभी भी सफल नहीं हो सकता।

अपने भोजन और वस्त्र की समस्या को साधु समाज, स्वयं अपने ढंग से और अपने बलबूते से सुलझायेगा। आज से नहीं हजारों वर्षों से वह अपने तेज और पराक्रम से जीवित रहा है। उसका भिक्षा का पात्र बन्द नहीं हो सकता। यदि उसमें दम है, तो सरकार उसे भिक्षा से रोक नहीं सकती।

महान् विज्ञान राशि आचार्य हरिभद्र ने भिक्षा तीन प्रकार की बतलाई है। कारुणा, सर्वसम्पत्करी और पौरुषघ्नी, दीन दुखी, अंग-प्रत्यंग हीन, अनाथ और जिनका जीवन संकटग्रस्त हो, ऐसे व्यक्तियों को भिक्षा देना, उनकी सेवा करना समाज का अपना कर्तव्य है। यह दान यह भिक्षा कारुणा भिक्षा कहलाती है। ऐसी भिक्षा देना समाज का कर्तव्य होना चाहिये।

जो भिक्षा पूज्य बुद्धि से श्रद्धा और भक्ति से दी जाती है, वह सर्व सम्पत्करी भिक्षा कहलाती है। यह भिक्षा साधु की भिक्षा है। वह, उस के अधिकार की भिक्षा है। वह, पूज्य बुद्धि से दी जाने वाली भिक्षा है। ऐसी भिक्षा देना समाज का कर्तव्य ही नहीं. बल्कि धर्म है। और लेने वाला उसका पूरा अधिकारी है। साधुने अपना समस्त जीवन समाज के कल्याण के लिए दे डाला है, उसके जीवन का प्रत्येक क्षण जनता के हितार्थ और सुखाय होता है, ऐसी स्थिति में, समाज उसे भोजन और वस्त्र देता है। यह दान नहीं, बल्कि, उसका हक है, उनका अधिकार है।

अधिकार का अर्थ क्या है? मैं आपसे पूछता हूं कि आप अपने माता-पिता की सेवा करते हैं। उन्हें खाने के लिये भोजन और तन ढकने के लिए वस्त्र देते हैं। तथा जीवन सम्बन्धी अन्य सामग्री भी आप उन्हें देते हैं। क्या आप उसे दान कहेंगे? नहीं, यह तो उनका अधिकार है। वह उसके अधिकारी ... हकदार हैं। वह अपने अधिकार के नाते लेते हैं। वह पूज्य हैं,

उनकी सेवा करना आपका अपना धर्म है।

इसी प्रकार साधु अपने पारमार्थिक जीवन निर्वाह के लिए समाज से भोजन और वस्त्र ग्रहण करता है। यह उसका अधिकार है, उसका अपना हक है। वह दर-दर का भिखारी होकर भिक्षा ग्रहण नहीं करता। वह अपने तेजस्वी जीवन की छाप डालकर, भिक्षा लेता है। यदि वह अपने जीवन की छाप नहीं डाल सकता, तो वह भिक्षा का अधिकारी भी नहीं है।

ढंढण मुनि का जीवन, आप लोगों में से अनेकों ने पढ़ा होगा या सुना होगा ? वह एक महान साधक था। जैन धर्म को उस महान तपस्वी के जीवन पर [illegible] वह साधारण घर का नहीं था। भारत के महान सम्राट श्रीकृष्ण का वह पुत्र होता था। विशाल राज्य वैभव को ठुकराकर भगवान नेमिनाथ के चरणों में उसने मुनिपद अंगीकार किया था। और भिक्षु जीवन ग्रहण कर उस महान ज्योति ने कहा था।

"भगवान्, मैं आज से साधु के नाते और मात्र अपने जीवन निर्वाह के लिए भिक्षा ग्रहण करूंगा। अपने महान् कुल उच्च जाति, माता-पिता और गुरु के नाते दी हुई भिक्षा को कदापि अंगीकार नहीं करूंगा"।

यह है, वह महान् ज्योति ! जो भूले-भटके साधुओं का पथ-दर्शन करती है। यह है, वह महान् शक्ति पुंज ! जिससे हजार-हजार जीवन को शक्ति मिलती है। यह है, त्याग का महान आदर्श !

ढंढण जैसी महान् आत्माओं की भिक्षा वृत्ति को कानून रोक नहीं सकता। विश्व की कोई भी शक्ति उसके विरोध में, अपनी आवाज बुलन्द नहीं कर सकती।

वर्तमान साधु समाज को अपने सम्मुख त्याग का वह आदर्श रखना होगा जिसे ढंढण ने अंगीकार किया था। साधु-जीवन, एक ऐसा जीवन हो, जिसे देखकर कानून बनाने वाले स्वयं अपनी भूल समझ कर, उसे रद्द करने को बाध्य हो जाएं।

वस्तुतः वर्तमान भिक्षा कानून, उस भिक्षा के लिये बना है, जिसे पौरुषघ्नी भिक्षा कहते हैं। जो भिक्षा समाज और राष्ट्र के पुरुषार्थ को नष्ट करने वाली है, उसी भिक्षा को रोकने के लिये यह कानून बना है। वह भिक्षा वास्तव में एक जघन्य पाप है। जीवन को अन्धकार की ओर ले जानेवाली है। ऐसी भिक्षा ग्रहण करने वाला 'पापी श्रमण' कहलाता है। उसे भिक्षा करने का अधिकार ही नहीं है।

पौरुषघ्नी भिक्षा तो दर असल बन्द होनी ही चाहिये। उत्तराध्यन सूत्र के 'श्रमण' अध्ययन में पौरुषघ्नी भिक्षा ग्रहण करने वाले श्रमण को 'पाप श्रमण कहा है। जैनधर्म के सुप्रसिद्ध आचारशास्त्र 'दसवैकालिक' में कहा है कि—

'अत्तट्ठा गुरुओ लुद्धो बहुं पावं पकुव्वइ।' अर्थात् जो साधु जनता का अन्न जल ग्रहण करके उनका कुछ भी उपकार नहीं करता। वह पेटू होता है। वह एक बहुत बड़ा पाप कर्म करता है ऐसी भिक्षा के लिये प्रतिबंध लगाना ही चाहिये।

अब रहा, वर्तमान साधु समाज का प्रश्न। उसे इस कानून

से घबराना नहीं चाहिये। बल्कि उसे अपनी योग्यता से यह भावना प्रकट करनी चाहिये, कि आपका कानून हम पर लागू नहीं हो सकता। हमारा यह भिक्षा पात्र हजार हजार वर्ष से जनता के द्वार पर पहुंच कर, श्रद्धा और भक्ति से भिक्षा ग्रहण करता रहा है। भिक्षा हमारा हक है, अधिकार है। हम गलियों में भटक ने वाले भिकारी नहीं हैं, बल्कि साधक हैं।

आज के साधु समाज को अब सचेत हो जाना चाहिये। नवीन उलझनों से डर कर, दूर भागने का यह समय नहीं है। ऐसे कब तक काम चलता रहेगा ? अपने जीवन, धर्म और संस्कृति को सुरक्षित रखने का यही उपाय है कि हम स्वयं उसका विरोध करें।

देहली सदर] ता० १४-१०-४८

———

:२:

सम्मेलन के पथ पर

साधु-सम्मेलन की शुभ वेला जैसे-जैसे समीप होती जाती है, वैसे-वैसे हम साधु लोग उस से दूर भागने की कोशिश करते हैं साधु-सम्मेलन से अर्थात् अपने ही सधर्मी और अपने ही सकर्मी बन्धुओं से हम इतना भयभीत क्यों होते हैं ? इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर कौन दे सकता है ?

आज हमारे साधु-सामज में सामूहिक भावना का लोप होकर वैयक्तिक भावना का जोर बढ़ता जा रहा है। हम समाज के कल्याणकर्म से हटकर अपने ही कल्याणबिन्दु पर केन्द्रित होते जा रहे हैं। शायद हमने भूल से यह समझ लिया है, कि अपनी २ सम्प्रदाय की उन्नति में ही समाज की उन्नति निहित

है। इस भावना को बल देकर आज तक हमने अपनी समाज का तो अहित किया ही है, साथ में यह भी निश्चित है, कि हम अपना और अपनी सम्प्रदाय का भी कोई हित नहीं साध सके हैं।

आज के इस समाजवादी युग में हम अपने-आप में सिमिट कर अपना विकास नहीं कर सकते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सहयोग के बिना आज जब कि जीवित नहीं रह सकता है, तब एक सम्प्रदाय, दूसरे सम्प्रदाय के सहयोग के बिना अपना विकास कैसे कर सकता है? साधु-समाज को आज नहीं तो कल यह निर्णय करना ही होगा कि हम व्यक्तिगत रूप में जीवित नहीं रह सकते। अतः हम सब को मिल कर संघ बना लेना चाहिये। इस सिद्धांत के बिना हम न अपना ही विकास कर सकते हैं, और न अपने समाज तथा धर्म का ही।

युग-चेतना का तिरस्कार कर के कोई भी समाज फल-फूल नहीं सकता। युग की मांग को अब हम अधिक देर तक नहीं ठुकरा सकते हैं। और यदि हम ने यह गलती की, तो इस का बुरा ही परिणाम होगा!

साधु-सम्मेलन का स्थान और तिथि निश्चित हो चुके हैं। अब इस शुभ अवसर को किसी भी भांति विफल नहीं होने देना चाहिये। दुर्भाग्यवशात् यदि हमारा साधु-समाज जाने या अनजाने, अनुकूल या प्रतिकूल किसीभी परिस्थित में, सम्मेलन में सम्मिलित न हो सका, तो इस प्रमाद से हमें ही नहीं, वरन् हमारे समाज और धर्म को भी निश्चय ही क्षति होगी।

अतएव सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए प्रत्येक प्रतिनिधि को दृढ़ संकल्प कर के निश्चित स्थान की तरफ विहार करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि अब हमारे पास बहुत ही कम समय रह गया है। हमारा दो वर्ष का परिश्रम सफल होना ही चाहिए। यदि हम प्रामाणिकता के साथ अपने गन्तव्य स्थान की तरफ चल पड़े, तो यह निश्चित है कि हम अवश्य ही सम्मेलन में पहुँच सकेंगे।

आज की बात केवल इतनी ही है। कुछ और भी है, अवसर मिला तो वह भी किसी उचित समय पर लिखने की अभिलाषा रखता हूँ।

ता०२८-४-५२

— —— —

:३:

मंगलमय सन्त-सम्मेलन

किसी भी समाज, राष्ट्र और धर्म को जीवित रहना हो तो उस का एक ही मार्ग है प्रेम का, संगठन का। जीवित रहने का अर्थ यह नहीं है, कि कीड़े-मकोड़ों की भांति गला सड़ा जीवन व्यतीत किया जाय। जीवित रहने का अर्थ है गौरव के साथ, मानमर्यादा के साथ, इज्जत और प्रतिष्ठा के साथ शानदार जिन्दगी गुजारना। पर, यह तभी सम्भव है, जबकि समाज में एकता की भावना हो, सहानुभूति और परस्पर प्रेम भाव हों।

पण्डित सिरेमलजी ने अभी कहा है कि हमारा जीवन मंगलमय हो। बात बड़ी सुन्दर है, कि हम मंगलमय और प्रभु-

मय बनने की कामना करते हैं। पर, इस के लिए मूल में सुधार करने की महती आवश्यकता है। यदि अन्दर में बदबू भर रही हो, काम क्रोध की ज्वाला दहक रही हो, द्वेष की चिनगारी सुगल रही हो, मान और माया का तूफान चल रहा हो, तो कुछ होने जाने वाला नहीं है। ऊपर से प्रेम के, संगठन के और एकता के जोशीले नारे लगाने से भी कोई तथ्य नहीं निकल सकता। समाज का परिवर्तन तो हृदय के परिवर्तन से ही हो सकता है।

मैं समाज के जीवन को देखता हूँ कि वह अलग अलग खूंटों से बंधा है। आपको यह समझना चाहिए, कि खूंटों से मनुष्यों को नहीं, पशुओं को बांधा जाता है। यदि हमने अपने जीवन को अन्दर से साम्प्रदायिक खूंटों से बांध रखा है तो कहना पड़ेगा कि हम अभी इन्सान की जिन्दगी नहीं बिता सके हैं। हम मानव की तरह सोच नहीं सके हैं, प्रगति के पथ पर कदम नहीं बढ़ा सके हैं। ऐसी स्थिति में हमारा जीवन मनुष्यों जैसा नहीं, पशुओं जैसा बन जाता है। क्योंकि पशुओं के हृदय, पशुओं के मस्तिष्क व पशुओं के नेत्र, पशुओं के कान, और पशुओं के हाथ पैर उनके अपने नहीं होते—वे होते हैं, मांगे हुए, वे होते हैं, गिरवे रखे हुए उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं रहता। उनका दिल और दिमाग स्वतन्त्र मार्ग नहीं चुन पाता। चरवाहा जिधर भी हांके, उन्हें उधर ही चलना होता है।

इसी प्रकार जो मनुष्य अपने आपको किसी सम्प्रदाय, गच्छ या गुट के खूंटे बांधे रखता है, अपने को गिरवे रख छोड़ता

है, तो वह पशु जीवन से किसी भांति ऊपर नहीं उठ सकता है। संस्कृत साहित्य में दो शब्द आते हैं–समज और समाज। भाषा की दृष्टि से उनमें केवल एक मात्रा का ही अन्तर है। पर, प्रयोग की दृष्टि से उनमें बड़ा भारी अन्तर रहा है। पशुओं के समूह को समज कहते हैं और मनुष्यों के समूह को समाज कहते हैं। पशु एकत्रित किए जाते हैं पर मनुष्य स्वयं ही एकत्रित होते हैं। पशुओं के एकत्रितहोने का कोई उद्देश्य नहीं होता, कोई भी लक्ष्य नहीं होता। किन्तु मनुष्यों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता–उनका उद्देश्य होता है, लक्ष्य होता है। जिस प्रकार पशु स्वयं अपनी इच्छा से एकत्रित न होकर उनका समज चरवाहे की इच्छा पर ही निर्भर होता हैं उसी प्रकार आज का साधु वर्ग भी अखबारों की चोटो से, इधर–उधर के संघर्षों से एकत्रित किए जाते हैं, जिनमें अपना निजी चिंतन नहीं, विवेक नहीं उन्हें समाज कैसे कहा जा सकता है, वह तो समज है।

हमारा अजमेर में एकत्रित होना–सहज ही हुआ है और मैं समझता हूँ हमारा यह मिलन भी मंगलमय होगा। किन्तु हमारा यह कार्य तभी मंगलमय होगा, जब हम सब मिलकर भगवान महावीर की मानमर्यादा को शान के साथ अक्षुण रखने का संकल्प करेगें। हमें जीवन की छोटी–मोटी समस्याएं घेरे रहती हैं जिनके कारण हम कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। जब साधु सन्त किसी क्षेत्र में मिलते हैं तब वहां एक सनसनी पूर्ण वातावरण फैल जाता है। दो चार मंजिल दूरी से ही भय-सा

छा जाता है कि अब क्या होगा ? अन्दर में काना फुँसी चलने लग जाती है। अजमेर में एकत्रित होने से पूर्व मुझ से पूछा गया कि महाराज, अब क्या होगा ? मैंने कहा—"यदि हम मनुष्य हैं, विवेकशील हैं तो अच्छा ही होगा"।

साधु जीवन मंगलमय होता है। साधुसन्त जहां कहीं भी एकत्रित होते हैं, वहां का वातावरण मंगलमय रहना ही चाहिए, वे जहां-कहीं भी रहेंगे, वहां प्रेम, उल्लास और सद्भाव की लहरें ही नजर में आएंगी। मुनियों के सुन्दर विचार नई राह खोज रहे हैं, युग के अनुसार स्वतन्त्र चिन्तन की वेगवती धारा प्रवाहित हो रही हैं। अब जमाना करवट बदल रहा है। हमें नये युग का नया नेतृत्व करना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपने उपयोकी पुरातन मूलभूत संस्कारों की अपेक्षा कर देंगे ? वृक्ष का गौरव मूल में खड़ा रहने में ही है इसे उखाड़ फकने में नहीं। हम देखते हैं कि वृक्ष अपने मूल रूप में खड़ा रहता है और शाखा प्रशाखाएं भी मौजूद रहती हैं केवल पत्र ही प्रतिवर्ष बदलते रहते हैं। एक हवा के झोके में हजारों लाखों पत्ते गिर पड़ते हैं। फिर भी वह वृक्ष अपने वैभव को लुटता देख कर रोता नहीं। बाग का माली भी वृक्ष को ठूंठ रूप में देख कर दुखः की आहें नहीं भरता, क्यों कि वह जानता है, इस त्याग के पिछे नया वैभव है, नवीन जीवन है।

इसी प्रकार जैन धर्म का मूल कायम रहे, शाखा प्रशाखाएं भी मौजूद रहे, यदि इन्हें काट ने का प्रयत्न किया गया, तो

केवल लकडियों का ढेर रह जायेगा। अतः उन्हें स्थिर रखना ही होगा। किन्तु नियम-उपनियम रूपी पत्ते जो सड़ गल गए हैं जिन्हें रूढ़ियों का कीट लग गया है, उन में समयानुसार परिवर्तन करना होगा। उन के व्यामोह में पड़ कर यदि उन्हें कायम रखने का नारा लगाते हो, तो तुम नवचेतना का अर्थ ही नहीं समझते हो? नया वैभव पाने के लिए पुरातन वैभव को विदा देनी ही होगी। उन को स्तीफा दिये बगैर जीवन में नव वसन्त खिल ही नहीं सकता। पतझड़ के समय पुरातन पत्तों को अपनी जगह का मोह त्यागना ही पडेगा।

३-४-५२

:४:

नगर-नगर में गूंजे नाद, सादड़ी सम्मेलन जिन्दाबाद

करीबन दो साल से जिसकी तैयारी हो रही है, वह साधु सम्मेलन अब निकट भविष्य में ही सादड़ी में होने जा रहा है। मारवाड़ के ऊंट की तरह हमारे सम्मेलन ने भी बहुत सी करवटें बदली। परम सौभाग्य है, कि अब वह सही और निश्चित करवट से बैठ गया है। सादड़ी में चारों तरफ से सन्त-सेना अपने अपने सेनानी के अधिनायकत्व में एकत्रित होती चली आ रही है। यह एक महान हर्ष है, कि चलता-फिरता सन्त तीर्थ अक्षय तृतीया से अपने भावी जीवन का एक सुमहान् विधान बनाने जा रहा है—वह विधान एक ऐसा विधान होना चाहिए, जिस में सम्प्रदायवाद, पदविवाद, शिष्य-लिप्सा और

गली-सड़ी परंपरा, एक समाचारी और मूलतः एक श्रद्धा प्ररूपणा का भव्य सिद्धान्त स्थिर होगा।

क्षय हो, तुम्हारे उस सम्प्रदायवाद की जिस के लोह आवरण में तुम्हारी मानवता का साँस घुटा जा रहा है। यह एक ऐसा विष-वृक्ष है, जिस के प्रभाव से तुम्हारा दिमाग तुम्हारा दिल और तुम्हारे शरीर की रग रग विषाक्त हो गई है यह एक ऐसा काला चश्मा है, जिसमें सब का काला ही रंग, एक ही विकृत रूप दिखाता है, जिस में अच्छे और बुरे कि तमीज तो बिल्कुल भी नहीं है।

सादड़ी के सन्त-तीर्थ में पहुंच कर हमें सब से पहले लौह आवरण का इसी विष-वृष का और इसी काले चश्में का क्षय करना है, अन्त करना है, विनाश करना है। आज के इस प्रगतिशील युग में भी यदि कदाचित् हम इस गले-सड़े सम्प्रदाय वाद को छोड़ न सके और उसे वानरी की भांति अपनी छाती से चिपकाये फिरते रहे, तो याद रखिए हम से बढ़ कर नादान दुनिया में ढूंढ़ने से भी न मिलेगा। हम सब को मिलकर एक स्वर, से एक आवाज और अन्योन्य सहयोग से सम्प्रदायवाद के भीषण पिशाच से लोहा लेना है।

विचार कीजिए आप धन-वैभव का परित्याग कर के सन्त बने हैं। अपने पुराने कुल और वंश की जीर्ण-शीर्ण शृंखला को तोड़ कर विश्व हितकर साधु बने हैं। अपनी जाती और विरादरी के घरोंदें को छोड़ कर गगन बिहारी विहंगम

बने हैं। यश, प्रतिष्ठा, पूजा और मान-सम्मान को त्याग कर श्रमण शील भिक्षु बने हैं। इतना महान त्याग कर के भी आप इन पदवी, पद और टाइटिलों से क्यों चिपक गए हो? इन से क्यों निगृहित होते जा रहे हो? युग आ गया है, कि आप सब इनको उतार फैंको। यह पूज्य है, यह प्रवर्तक है, यह गणावच्छेदक है। इन पदों का आज के जीवन में ज़रा भी मूल्य नहीं रहा है, यदि हम किसी पद के उत्तरदायित्व को निभा सकें, तो हमारे लिए साधुत्व का पद ही पर्याप्त है। सन्त-सेना के सैनानी को हम आचार्य कहें, यह बात शास्त्र संगत भी है और व्यवहार सिद्ध भी। आज के युग में तो साधु और आचार्य ये दो पद ही हमें पर्याप्त हैं, यदि इनके भार को भलीभांति सहन कर सकें तो।

याद रखिए, यह भिन्न भिन्न शिष्य परंपरा भी विष की गांठ है। इस का मूलोच्छेद जब तक न होगा, तब तक हमारा संगठन क्षणिक ही रहेगा वह चिरस्थायी न हो सकेगा। शिष्य लिप्सा के कारण बहुत से अनर्थ होते हैं। शिष्य-लिप्सा के कारण गुरु-शिष्य में, गुरु भ्राताओं में कलह होता है, झगड़े होते हैं। शिष्य-मोह में कभी कभी हम अपना गुरुत्व भाव, साधुत्व भाव भी भूला बैठते हैं। हमारे पतन का हमारे विघटन का और हमारे पारस्परिक मनो मालिन्य का मुख्य कारण शिष्य लिप्सा ही है। इसका परित्याग कर के ही हम सम्मेलन को सफल बना सकते हैं।

अब हमें अन्ध परंपरा, गलत विश्वास और भ्रांत धारणा छोड़नी ही होगी। भिन्न भिन्न विश्वासों का, धारणाओं का परंपराओं का और श्रद्धाप्ररूपणा का हमें समन्वय करना ही होगा-सन्तुलन स्थापित करना ही होगा। आज न किया गया तो कल स्वतः होकर ही रहेगा।

आओ, हम सब मिलकर अपनी कमजोरियों को पहिचान लें अपनी दुर्बलताओं को जान लें और अपनी कमियों को समझ लें। और फिर गम्भीरता से उन पर विचार करलें। हम सब एक साथ विचार करें, एक साथ बोलें और एक साथ ही चलना सीख लें। हमारा विचार, हमारा आचार और हमरा व्यवहार सब एक हो।

जीवन की इन उलझी गुत्थियों को हम एक संग, एक आचार्य, एक शिष्य परंपरा और एक समाचारी के बल से ही सुलझा सकते हैं। हमारी शक्ति, हमारा बल और हमारा तेज एकही जगह केन्द्रित हो जाना चाहिए। हमारा शासन मजबूत हो, हमारा अनुशासन अनुल्लंघनीय हो। हमारी समाज का हर साधु फौलादि सैनिक हो, और वह दूरदर्शी, पैनी सूझवाला तथा देश-काल की प्रगति को पहिचानने वाला हो।

इस आगामी सादड़ी सम्मेलन में यदि हम इतना काम कर सके, तो फिर हमें युग-युग तक जीने से कोई रोक नहीं सकता। हमारे विधान को कोई तिरस्कृत नहीं कर सकेगा। हमारी बिगड़ती स्थिति सुधर जायगी। हम गिरते हुए फिर उठने लगेंगे। हम रेंगते

हुए फिर उठ कर चलने लगेंगे, और फिर ऊंची उड़ान भी भर सकेंगे।

आओ, हम सब मिल कर सादड़ी सम्मेलन को सफल बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें, इमानदारी से कोशिश करें। हमारी भावी सन्तान हमारे इस महान् कार्य को बुद्धिमतापूर्ण निर्णय कह सके। हमारे इस जीवित इतिहास को स्वर्णाक्षरों में लिख सके। हमारी आनेवाली पीढ़ी हमारे इस महान् निर्णय पर गर्व कर सके। आनेवाला युग हमारी यशोगाथा का युग-युग तक गान करता रहे। हमारा एक ही कार्य होना चाहिए, कि हम सादड़ी में सब सफल होकर ही लौटें। सम्मेलन को सफल करना ही हमारा एक मात्र ध्येय है।

२४-४-'५२

:५:

सत्पुरुष स्वयं ही अपना परिचय है

आज वसन्त पंचमी का मंगलमय दिवस है। प्रकृति अपना नया रंग-रूप लेकर अवतरित हो रही है। चारों ओर वसन्त प्रस्फुरित हो रहा है। वृक्षों पर नये नये पुष्प जन्म ले रहे हैं। प्रकृति का प्रांगण आनन्द और उल्हास से हरा-भरा हो रहा है। इधर-उधर सर्वत उमंग तथा उत्साह दृष्टि गोचर हो रहा है।

मुझे महान हर्ष है, कि जैन समाज का विशाल प्रांगण भी वसन्त के आनन्द पूर्ण प्रमोद से शून्य नहीं रहा है। जैन समाज की विराट वाटिका में भी आज के रोज एक सौरभ-पूर्ण पुष्प खिला था, जिस की सुगन्ध और मनोमोहकता से एक दिवस सम्पूर्ण समाज चकित हो गया था मेरा अभिप्राय उस मानव-पुष्प से है, जिसको आज हम और आप "पूज्यवर रघुनाथजी" के गौरव पूर्ण नाम से अभिहित करते हैं।

यह ठीक है, कि मैं उस महान् आत्मा की जीवन-गाथा से पूर्णरूपेण परिचित नहीं हूं, पर यह कहना भी वास्तविक न होगा, कि मैं उनके त्याग-वैराग्य पूर्ण महान् व्यक्तित्व से सर्वथा अपरिचित ही हूँ। आज से बहुत वर्षों पूर्व भी मैंने कुछ पढ़ा है, और आज की सभा में मन्त्रिवर श्री मिसरीलालजी महाराज ने उनके विषय में जो परिचय दिया है, उससे उनके जीवन की झांकी स्पष्ट हो जाती है।

यदि वास्तविक रूप में कहा जाए, तो मुझे कहना होगा कि एक सत्पुरुष का सच्चा परिचय उसकी जीवन-चर्या ही है। सत्पुरुष स्वतः ही अपना परिचय है इस दृष्टिकोण से पूज्यवर श्री रघुनाथजी महाराज का परिचय उन का त्याग-वैराग्य वासित जीवन ही कहा जा सकता है। समाज सेवा और धर्म रक्षा के निमित्त उन्होंने मरुधरधरा में जो कार्य किया है, उसे आज भी हम और आप भूल नहीं सके हैं।

आपने उन के जीवन की एक कहानी के आधार से यह पता लगा लिया होगा कि जब वे गृहस्थ थे, तभी उनके मानस-सरोवर में अमर होने की भावना हिलोरें लेने लगी थी। उनके अन्तः करण में अमरत्व प्राप्त करने की बलवती भावना जाग उठी थी। अमरत्व प्राप्ति की धुन में वे अपने एक साथी की सलाह से किसी देवी के मन्दिर में अपना सिर चढ़ाने को भी तैयार थे। परन्तु उसी समय उन्हें जीवन-कला का सच्चा पारखी सन्त मिला जिन का नाम था-"श्रद्धेय भूधरदासजी महाराज"। श्री भूधरदासजी

महाराज ने रघुनाथजी म० के अन्तर्जीवन को परखा और उन्हें सच्ची अमरता के महा मार्ग पर लगा दिया। लोहे को चिन्ता मणी का संयोग मिला, और स्वर्ण बन गया। उसने आत्मा के स्वरूप को और उसके स्वभाव सिद्ध अमरत्व धर्म को भली भांति समझ लिया।

एक बलवान गजराज को कोमल कमल तन्तु कैसे बांध सकते हैं? कमल तन्तुओं से कीडे-मकोडो का जीवन बांधा जा सकता है, उस जाल में उन्हें भले ही बांधा जा सकता है, परन्तु एक बलशाली गजेन्द्र को उस में नहीं बांधा जा सकता? वह क्षण भर में ही इस बन्धन को तोड फेंकता है। पूज्यवर रघुनाथ जी ने भी संसार की मोह ममता के कच्चे धागों को तोड फेंका था। संसार के सभी प्रलोभन उन्हें सार हीन हो गए थे। उन्होंने एक परिवार को छोडकर सम्पूर्ण समाज को ही अपना परिवार बना लिया था। 'वसुधा ही कुटम्बकम्' वाले सिद्धान्त पर वे चल पड़े थे। क्रोध की आंधी, मान की चट्टानें, माया का घुमाव और लोभ का गर्त उनकी वैराग्य नदी को रोक रखने में सर्वथा असमर्थ थे। उनके मजबूत कदम त्याग—मार्ग पर बढ़ते ही रहे।

मैं अपने आज के श्रमण-श्रमणी वर्ग से कहूँगा, कि उन के जीवन से त्याग और वैराग्य की शिक्षा ग्रहण करें। जो साधना के मार्ग पर चल पड़े हैं, जिन्होंने संयम के पथ पर कदम बढ़ा दिया है, उन्हें सोचना चाहिए, कि उनके अन्तर्जीवन में त्याग—वैराग्य की ज्योति कितनी चमकी है? साधना के धर्म को कि

समझ रहे हैं ? अध्यात्म वादी कवि तथा सन्त आनन्दघनजी के शब्दों में कहना होगा ।

> "धार तलवारनी सोहली,
> दोहली चौदवां जिन तणि चरण सेवा ।
> धार पर नाचता देख बाजीगरा,
> सेवना धार पर रहे न देवा ॥

तलवार की धारा पर चलना सहज है, सुगम है । दो दो पैसे की भीख मांग ने वाले बाजीगर भी खेल दिखलाते समय तलवार की तीक्ष्ण धारा पर चल पड़ते हैं, नाच सकते हैं । परन्तु साधना की धार पर बड़े बड़े महारथियों के पैर भी धूजने लगते हैं, लड़खड़ाने लगतें हैं । अतः संयम—साधना के पथ पर चलना कोई सहज काम नहीं है, बड़ा ही दुष्कर है ।

संयम—साधना के महामार्ग पर चलने वाले साधक अनेक प्रकार के होते हैं । कुछ ऐसे हैं, जो इस पथ पर रोते—रोते कदम धरते हैं, और रोते—रोते ही गीदड़ों की भांति चलते हैं । दूसरे कुछ ऐसे होते हैं, जो गीदड़ों की तरह कांपते—कांपते मार्ग पर चढ़ते हैं, परन्तु बाद में शेर की तरह दहाड़ते हुए चलते हैं । कुछ ऐसे हैं, जो पहले भावनाओं में बहकर शेर की तरह दहाड़ते हुए निकलते हैं, पर बाद में गीदड़ की तरह कायरतापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं । कुछ ऐसे भी साधक होते हैं, जो सिंह की भांति गर्जना करते हुए ही मार्ग पर आते हैं, वीरता—पूर्वक ही जीवन व्यतीत करते हैं ।

पूज्यवर श्री रघुनाथजी महाराज सिंह की भांति ही संयम के मार्ग पर चढ़े, और सिंहवृत्ति से ही उसका पालन करते रहे,

अपने ध्येय की ओर बढ़ते रहे। उनके ज्ञान और चरित्र का प्रकाश आज भी हमारे अन्तरमानसों को आलोकित करता रहे, यही हम सब की भावना रहनी चाहिए।

दीपक प्रज्वलित होकर बाहर अपना प्रकाश फैलाता है, अन्धकार पर विजय पाता है। पर यदि उस में अन्दर तेल न हो, तो वह कैसे प्रकाश दे सकता? कैसे अन्धकार से लड सकता है? अन्दर तेल न होने से वह बत्ती को जला कर, अपनी धुंआ छोड़कर ही समाप्त हो जाता है। साधक जीवन की भी ठीक वही अवस्था होती है। जिस साधक के जीवन में त्याग-वैराग्य, संयम-साधना और सत्य-अहिंसा का तैल नहीं है, मनोबल नहीं है, आत्म-शक्ति नहीं है, वह जीवन क्षेत्र में कैसे चमक सकते हैं? जनता की श्रद्धा और विश्वास को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? उन का खोखला जीवन जनता को कैसे प्रेरणा दे सकता है?

पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज का संयम-साधन का काल बहुत लम्बा रहा है। वे साधना के पथ पर स्वयं बढे हैं, और दूसरों को भी उन्हों ने सतत प्रेरणा दी है। वे जीवन कला के सच्चे पारखी थे। उन्होंने अपने एक योग्य शिष्य को भी पथ-भ्रष्ट होते देख कर छोड दिया था। शिष्य-मोह में फंसकर उन्होंने उस की दुर्बलता की लिपा-पोती नहीं की थी। हमें उन के जीवन से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आज तो हम देखते हैं, कि एक साधारण शिष्य का भी गुरु व्यामोह नहीं छोड़ सकता?

इतना ही नहीं, वह अपने शिष्य की भूलों को छुपाने का भी प्रयत्न करता है। यह शिष्य-व्यामोह ही हमारी गड-बडी का कारण बन जाता है।

समय बहुत हो गया है, हमें अपना दूसरा काम भी करना है। फिर भी मैं इतना अवश्य कहता हूं, कि हमें उस महान् साधक के गुणों से बड़ा भारी प्रकाश मिलता है। उन के त्याग-वैराग्य की जगमगाती ज्योति आज भी चमक रही है। उनके तपोमय जीवन से प्रभावित होकर हम सब उनके चरणों में अपनी श्रद्धा के पुष्प चढाते हैं किसी भी महापुरुष के साधनामय जीवन पर अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाना, वाणी का तप है।

संस्कृत साहित्य के उद्‌भट विद्वान और महाकवि श्री हर्ष ने कहा है, कि किसी योग्य विद्वान के प्रति अथवा किसी साधक के प्रति अनुराग न रखना, उस के गुणों का उत्कीर्तन न करना भी एक प्रकार का जीवन शल्य है। वाणी की विफलता है। कवि कहता है,—

वाग्जन्म वैफल्य मसह्य शल्यं,
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।।

गुण-सम्पन्न व्यक्ति के गुणों का उत्कीर्तन न कर के चुप हो बैठ जाना, अपनी वाक्‌शक्ति का [illegible] है। अर्थात् उस की वाक्‌शक्ति व्यर्थ है। मैंने उस महान् साधक के चरणों में श्रद्धा के पुष्प चढ़ाकर अपनी वाणी [illegible] किया है।

:६:

शक्ति का अजस्र स्रोत: संघटन

आज प्रवचन तो मुख्य रूप में परम श्रद्धेय उपाचार्य श्रीजी का होगा। परन्तु उनका आदेश है, कि पहले मैं भी थोड़ा-सा बोल दूँ। फिर आप और हम श्रद्धेय श्री के सुधा मधुर प्रवचन का अमृत पान करेंगे।

लोग पूछा करते हैं, कि क्या जैन धर्म सम्प्रदाय वाद में विश्वास करता है। इस सम्बन्ध में मेरा यह विश्वास रहा है कि जैन धर्म मूल में असम्प्रदाय वादी रहा है बल्कि कहना होगा वह सम्प्रदाय वाद के विरोध में खड़ा है इसका प्राचीन इतिहास इस बात का प्रबल प्रमाण है कि इस में सम्प्रदायवाद पन्थशाही और फिरकापरस्ती को जरा भी जगह नहीं है। भगवान महावीर

। पूर्व और उनके बाद कालान्तर में भी लम्बे अर्से तक जैन धर्म
ी धारा अखण्ड रूप में प्रवाहित रही है। जैन धर्म का मूल
त्र परमेष्ठी इस तथ्य का प्रत्यक्ष साक्षी है कि जैन धर्म मूल में एक
ा। परन्तु आगे चलकर मनुष्यों में ज्यों ज्यों विचार भेद होता गया
यों त्यों सिद्धान्त भेद और मनो भेद भी होता गया। यदि भेद की
ीमा, विचार तथा सिद्धान्त की रेखा का उलंघन करके मानस
क न पहुँची, तो पन्थों का जन्म ही न हो पाता। मनो भेद से
ी सम्प्रदाय और पन्थों का जन्म होता है' आविर्भाव होता है।

आदिम युग में हम एक थे, मध्य युग में अनेक हुए और
र्तमान युग में हम फिर एकत्व की ओर लौट रहे हैं। प्रथम युग
मारा शान दार रहा है, मध्य युग में हम विभक्त होते होते बहुत
ीण और बौने हो गए हैं। ८४ गच्छ २२ सम्प्रदाय तेरह पन्थ
ौर बीस पन्थ-यह सब हमारा विकृत मध्य युग है। यह ठीक है
के समाज में जब जब सुधार का उभार उठता है, और क्रान्ति
ा तूफान उमड़ता है, तब तब समाज या संघ एकत्व से अनेकत्व
ी ओर बढ़ता है। क्योंकि सम्पूर्ण समाज न कभी सुधरा है, और
न कभी क्रान्ति शील ही बना है। ऐसी परिस्थिति में एक ही
समाज में अनेक दलों का होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा
सकता। किन्तु जैसे एक ही सिक्के में दो बाजू होने पर भी उन में
किसी एक का वैमनस्य नहीं होता, वैसे ही वैमनस्य रहित समाज की
कल्पना करना अनुचित तथा असम्भव नहीं है। एक ही नदी
मध्य में पर्वत आजाने से दो धाराओं में विभक्त हो सकती है,

परन्तु उसका मूल स्रोत एक होने से वह एक ही रहेगी। आवश्यकता और विकास के लिए विघटन भी हमें कभी वरदान सिद्ध हुआ होगा। पर आज वह अभिशाप बनता नजर आ रहा है। आज समाज का विघटन नहीं संघटन अपेक्षित हो रहा है। प्रत्यक्ष या परोक्ष जैन धर्म के सभी पन्थों में आज संघटन की चर्चा है। समाज सरिता आज एकत्व की ओर बह रही है।

अभी विगत वर्ष में सैकड़ों सदियों से बिखरा स्थानक वासी समाज, एक विराट रूप में संघटित होगया है इस विशाल संघटन को श्रमण-संघ नाम दिया गया है। लोग इस श्रमण संघ को विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से देखते हैं। कुछ कहते हैं-"यह एक जादू जैसा होगया है।" कुछ का विचार है- यह युग की माँग थी।" कुछ बोलते हैं-"ऐसा होना था; होगया।" कुछ भविष्य वक्ता ऐसे भी हैं, कि जो कहते हैं-"यह तो बालू का किला है, बच्चों का खेल जैसा है।" जितने मुँह उतनी बातें होती हैं। मैं तो आज भी यही कहता हूं, कि हमने जो कुछ भी किया है वह विचार पूर्वक किया है, निष्ठा पूर्वक किया है, साधना और तपोबल से किया है। लोग नुक्ता चीनी करें, आलोचना करें, कुछ भी क्यों न करें। पर हमें अपना कर्तव्य नहीं भूलना है। समाज में आज भी कुछ ऐसे तत्व हैं, जो अपनी स्वार्थ पूर्ती के लिए मन मानी और मन चाही करना चाहते हैं। समाज में विघटन पैदा करते हैं। इन सब से सावधान रह कर हमें सतत आगे बढ़ना है। सचेत रहना हमारा कर्तव्य है, पर रुकना हमारा काम नहीं।

हमारा मध्य युगीन इतिहास बार-बार एक ही कहानी सुनाता है, कि "हमारा जब-जब बिगाड़ हुआ है, तब-तब घर से ही हुआ है। गुरु और शिष्यों के लम्बे संघर्षों के अध्याय के अध्याय इस इतिहास में नत्थी हैं। शिष्य ने देखा, कि गुरु की अपेक्षा मेरी पूजा-प्रतिष्ठा बहुत कम है, तो आवश्यक न होने पर भी उसने विचार भेदों के नाम पर मनो भेदों की गहरी परिखा खोद डाली। गुरु को छोडा गुरु परम्परा को छोड़ा गुरु-परिवार को छोड़ा, और अपने मन मिले दो चार साथियों को लेकर अलग पन्थ खड़ा कर लिया। तब अपने पन्थ और सम्प्रदाय को पुष्ट और स्थिर करने के लिए गुरुपक्ष की निन्दा की जाने लगी और स्वपक्ष की प्रशंसा। गुरु के विचार पुराने हैं। मैं नये विचार लेकर आया हूं। मेरी श्रद्धा विशुद्ध है। मेरा आचार शास्त्र सम्मत है। इस प्रकार के स्वार्थ पूर्ण नारे लगाए जाने लगे। एक अखण्ड जैन धर्म इसी तरह टुकड़ों में बँटता रहा। विभक्त होना इतना बुरा और मंहगा न पडता यदि उन में परस्पर सहयोग और सद्-भाव बना रहता। वृक्ष की शाखा, प्रशाखा, डाली और टहनी कितनी भी क्यों न हों? परन्तु यदि इन सब का मूल एक है, तो भूमि का जल और सूर्य का आतप उसका पोषण ही करते हैं। यदि उस वृक्ष की जड़ में जहरीले कीड़े लग जाएँ, तो वृक्ष कभी भी हरा-भरा नहीं रह सकता। जैन धर्म के मूल में भी जब से स्वार्थ का अहंकार का और विद्वेष का कीड़ा लगा, तब से यह निरन्तर ही सूखने लगा। यही कारण है, कि हमारा सच

युगीन इतिहास धूमिल और अट पटा बन कर खड़ा रह गया। उसमें से प्राणतत्त्व निकल गया, गति और विकास निकल गया, वह जड़ हो गया।

हिन्दुस्तान की आजादी के बाद भारत के लौह पुरुष सरदार पटेल ने एक बार अपने भाषण में कहा था—"हिन्दुस्तान-को बाहर के दुश्मनों से खतरा नहीं, उसे खतरा है, अन्दर के दुश्मनोंसे। हिन्दुस्तान का जब कभी अहित होगा, हिन्दुस्तान के लोगों के हाथों मे ही होगा। लंका का सर्वनाश लंका के नागरिक विभीषण के कारण ही हुआ था। जैन धर्म के टुकड़े भी उसके अपने अनुयायियों ने ही किए हैं। "इस घर को आग लग गई, घर के चिराग से"। हमारा घर भी अपने चिराग से ही जला है। श्रमणसंघ का निर्माण हो चुका। जन्म हो चुका है। अब आवश्यकताहै, उसके लालनपालन और अभिवर्धन की। जितनी तीव्रता से इसके प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ेगी, उतनी शीघ्रता से ही। यह श्रमण संघ सुघड़ सुदृढ़ बनता रहेगा। आलोचकों के अग्निबाण, निन्दकों के अणुबम्ब और स्वार्थरतजनों की दुरभि सन्धि—ये ही हैं, वे घर के चिराग जिनसे इस संघ में आग के भभकते शोले उठ सकते हैं। जब तक हमारे दिल और दिमाग मध्ययुगीन भावनाओं से रंगीन बने रहेंगे, तब तक हमारा सही अर्थ में अभ्युत्थान, विकास और प्रगति सम्भव नहीं। प्रसन्नता है, कि हम अपने धूमिल मध्य युग से निकलने का प्रयत्न कर रहे हैं। हमारा वर्तमान आशा पूर्ण है, और भविष्य समुज्ज्वल प्रतीत होने लगा है।

हमारे वर्तमान के पन्ने पर भविष्य की सुनहली स्याही से वही व्यक्ति महत्वशाली रूप में अंकित होगा, जो अपनी तीव्रतम श्रद्धा से, निष्ठा से श्रमण संघ का पोषण करेगा, उसके प्रति वफादार रहेगा।

श्रमण और श्रमणी, श्रावक और श्राविका-ये जब अपने आप में परिसीमित होने की चेष्टा करते हैं, तब वे व्यक्ति होते हैं, और जब ये अपना अपनत्व भूलकर समवेत होने का प्रयत्न करते हैं, तब ये समाज होते हैं, संघ होते हैं। जिस महत्त्व पूर्ण-कार्य को एक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन में भी नहीं कर पाता। संघ उस को सहज ही में कर लेता है। संघ शक्ति का एक अजस्र स्रोत है। हमारा प्राचीन इतिहास बताता है. कि संघ के अभ्युदय के लिए बड़े से बड़े व्यक्ति को भी अपनी निजी इच्छा को छोड़कर संघ की इच्छा पर चलना पड़ता है। इतना अनुशासन यदि हम में हो, तो फिर हमारा यह श्रमण संघ कभी मिट नहीं सकेगा। वह सतत हमें प्रेरणा, उत्साह, स्फूर्ति और आगे बढ़ने का बल प्रदान करता रहेगा। हम सब मिलकर संघ के सघन वृक्ष की सीतल छाया में और सुरभित पवन में आनन्द, शान्ति और सुख पा सकेंगे।

जोधपुर २१-१-५३

:७:

वर्धमान श्रमण संघ

जब कभी हम जैन धर्म के विशाल साहित्य का अवलोकन करते हैं या पुराने इतिहासों के पन्ने उलटते हैं तो एक बात सामने आ जाती है, कि जैन ध[illegible] व्यक्ति को महत्व देता है या संघ को ? जैन धर्म की परम्पराएँ सामूहिक चेतना को महत्व देती है अथवा व्यक्तिगत चेतना को ?

इन उठते प्रश्नों के समाधान के लिए यदि आप ठीक तरह से गहराई में उतर कर जैन धर्म के इतिहास को पढ़ेंगे ता मालूम पड़ेगा, कि वह सामूहिक चेतना को ही सदा महत्व देता आया है, और सामूहिक विकास के लिए ही सतत प्रयत्नशील रहा है तथा सामूहिक चेतना द्वारा ही समाज में सामाजिक

क्रान्ति फैलाने में उसे सफलता मिली है।

महावीर भगवान से लेकर आज तक के इतिहास को पढ़ेंगे तो एक बात ध्यान में आयगी कि जब जब जैन धर्म केवल व्यक्तिगत सन्मान को आगे लेकर चला है जब जब जैन धर्म के आचार्य, साधु या कोई भी अपने ही महत्व को आंकने लगे और सामूहिक महत्व को आंखो से ओझल कर दिया तब तब उनका पतन हुआ और गिरावट हुई और वे ऊँचे आदर्श नीचे से नीचे उतर ते गए हैं।

किन्तु इसके विपरीत जब जब इस धर्म ने व्यक्ति से बढ़ कर संघ को महत्व दिया, संघ के सत्कार मान को अपना समझा तथा उसकी भलाई और बड़ाई को अपनी समझी तब तब जैन धर्म ने अपना महत्वपूर्ण विकास किया है और विश्व कल्याणकी दिशा में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

हमारे यहां चरित्र को, ज्ञान को, दर्शन को और तपश्चर्या को तथा व्यक्ति गत साधना को बहुत बड़ा महत्व दिया गया है किन्तु हमारे बड़े बड़े आचार्यों ने जीवन सुधार की क्रियाओं को महत्व पूर्ण स्थान देते हुए भी प्रसंगवश संघ के सन्मान के लिए उसकी बिगड़ी दशा सुधारने के लिए अपनी व्यक्तिगत साधना को भी किनारे डाल दिया।

एक बड़े आचार्य भद्रबाहु का युग हमारे सामने है, जब कि बारह वर्ष का दुष्काल भारत में फैला हुआ था और उसकी लपटों में जनता झुलस रही थी। महाश्रमण संघ भी कठिनाइयों

में उलझ कर बिखर गया और उसके संत उस संकट काल में विकारों और बुराइयों के शिकार होकर इधर उधर चले गये संकट बीतने पर जब वे जीवन के क्षेत्र को ठीक करने तथा बिखरी कड़ी को जोड़ने और अपने को संघ बद्ध करने के लिए इकट्ठे हुए तो उन्हें आचार्य नहीं मिल सके। पता चला कि वे साधना कर रहे हैं। उनके पास एक संत गया और बोला कि आप को संघ याद कर रहा है इस पर भद्रबाहु बोले कि मुझे व्यक्ति गत साधना में अवकास नहीं है कि जाऊं। बाद में सारे संघ ने मिलकर एक संत को भेजकर पुनः आचार्य से पुछवाया कि संघ का कार्य महत्वपूर्ण है, या साधना ? संघ उसका उत्तर चाहता है। भिक्षु के प्रश्नों को सुनकर आचार्य ने कहा—मैं इसका उत्तर यहां न देकर संघ की विगड़ी दशा का सुधार और उसका पुनर्गठन कर कार्य रूप से दे सकता हूँ—वातों से नहीं। और वे साधना को छोड़ संघ के लिए पाटली पुत्र आकर नये सिरे से संगठन की व्यवस्था कर उसकी बिखरी कड़ियों को फिर से जोड़ उसे इस लायक बना देते हैं, जिससे वह विशाल जीवन मैदान को पार करने में सफल हो जाता है।

इसी प्रकार सदियों से बिखरता हुआ एक से दो और दो से चार के रूप में टुटता हुआ तथा अलग अलग सम्प्रदायों के रूप में मान पद पूजा पाता हुआ जो हमारा समाज चलता रहा था, जिसमें आज तक एकता का संयोग प्राप्त नहीं हुआ था–सादड़ी में वह युग को पहिचान एक हो गया। बदली

परिस्थिति और बदले वातावरण में इस प्रकार अलग अलग रहना और व्यक्तिगत रूप को महत्व देना तथा सामूहिक चेतना के लिए कुछ भी नहीं करना अब संभव नहीं था। भले यह कभी महत्वपूर्ण रहा हो लेकिन आज का युग तो इसे नहीं चाहता।

इसीलिए पंजाब महाराष्ट्र से लेकर मालवा, मारवाड़, मेवाड़ के संत इकट्ठे होकर विचार विमर्श करके जो कुछ भी किया है वह सबके सामने है।

संघ धर्म की जो विराट चेतना या लहर सादड़ी में देखने को मिली और संघ नेता आचार्य उपाचार्य पदवी के ऊपर उल्लास का जो तूफान आंखों से गुजरा-हजारों हजार लोगों के हर्ष भरे उमड़ते दिल देखने को मिले तथा जय जय के गगन भेदी नारों से आकाश गूंजता देखा तो मालूम हुआ कि जनता जो चाहती थी वही हुआ। इसके लिए हम पर दबाव नहीं था, हमने इकट्ठे होकर अपने मन से जो कुछ भी किया-जनता ने खुले दिल से उसका स्वागत किया।

मनोभूमिका और परिस्थिति को बदलते देर नहीं लगती है। तूफान आता है तो जो कुछ शताब्दियों में नहीं होता वह दिनों क्षणों में हो जाता है, और कभी कभी महान् संघर्ष होने पर भी प्रगति नहीं मिल पाती। फिर भी यदि हारे न थके और विचारों का तूफान चलता ही रहे तो सफलता मिल कर रहेगी। सादड़ी इसका ज्वलंत उदाहरण है।

यदि हम अहिंसा और सत्य के लिए सामूहिक-कल्याण के गौरव और सन्मान के लिए संघर्ष करते रहेंगे तो उठते देर नहीं लगेगी। यह सत्य है कि सादड़ी का कदम हमारा जितना कड़क था—उतना यह दूसरा नहीं। पर विश्वास है कि इस पथ पर चलकर मंजिल मिल ही जाएगी।

सादड़ी सम्मेलन के समय एक भाई ने पूछा कि आप आशावादी हैं या निराशावादी ? मैंने कहा सौ में सौ टका आशा-वादी और उतना ही निराशावादी जब आशा और निराशा दोनों की छाया हम पर सतत छायी रहती है कोई काम सुधरता नजर आता तो मुझे आशा होती है और कुछ नहीं होता नजर आया तो मुझे निराशा होती है। इसी तरह यह द्वन्द चल रहा है।

किन्तु काम करने वालों को आशा और निराशा से परे अनासक्ति भाव से काम करना चाहिये—कर्त्तव्य की भावना से काम करना चाहिये। ऐसी दृष्टि और भावना बनी रही तो सोजत में जो कुछ हुआ और जोधपुर में जो कुछ होगा—वह कदम आगे ही होगा पीछे की ओर नहीं।

जीवन संग्राम में मोर्चा कभी आगे भी लग सकता है और कभी पीछे भी लग सकता है। जरूरत के मुताबिक आगे पीछे अगल बगल मोर्चे बदले जा सकते हैं, किन्तु साधक में कर्त्तव्य की भावना बनी रहनी चाहिये, फिर तो मोर्चे में मजबूती है और सफलता निश्चित है।

साधु संघ ने जो कुछ कार्य हाथ में लिया वह कर दिया किन्तु आपने अपना उत्तर दायित्व क्या निभाया है? आज श्रमण संघ को जीवन में पदार्पण किये डेढ़ वर्ष हो जाता है। इस बीच आपने अपने मन को कितना मांजा साफ किया? पुरानी दुर्बुद्धि और गुरुभाव निकली या नहीं? आपका मन खुले मैदान में है या पुराने सपने ही देख रहा है? आपके तारों में पुरानी रागनियें ही तो नहीं बज रही हैं? गुरुमाप के जो गज पहिले थे वही अब भी हैं या नये भी किये? श्रमण संघ के समस्त संत-आपके हो चुके या भेद बुद्धि ही हैं? वैधानिक कागजों की दृष्टी से तो हम आप एक हो चुके मगर ये सारे प्रश्न हैं जिन पर आप लोगों को ही सोचना है।

आलोचना इस युग का महान् अधिकार है। जो सरकार प्रजा से यह अधिकार छीन लेती और प्रजा मानने को तैयार नहीं होती, वहाँ प्रजातन्त्र का-अधिकार मर जाता है। जो सरकार सदा के लिए यह अधिकार प्रजा को दे देती है ताकि प्रजा अपने जीवन की उलझनों के सम्बन्ध में ठीक २ विचार सरकार के सामने रखें। ऐसी सरकार और उसकी प्रजा राष्ट्रोन्नति, राष्ट्रोत्थान करती रहती है। जो सरकार ऐसा नहीं करती वह राष्ट्र को विकास से वंचित रखती है। प्रजा और सरकार में परस्पर प्रेम सम्मान और आदर का भाव रहना चाहिये।

आज जैन धर्म को अनुकूल वातावरण मिला है। संसार

की उलझी हुई समस्या को सुलझाने तथा बढ़ते हुए वर्ग संघर्ष को रोकने एवं प्रजातन्त्र की भावना को विकसित करने के लिए अब भी जैन धर्म का अनन्त ज्ञान भंडार भरा हुआ है। संसार को देने के लिये खजाना खाली नहीं हुवा है। जरूरत है कि हम आपस में एक दूसरे को-सम्मान गौरव और प्रेम की नजरों से देखें। गिरी हालत में भी हमारा जैन साहित्य कल्याण की भावनाओं से ओत प्रोत है—विश्व बन्धुत्व की क्षमताओं से भरा पडा है।

श्रमण संघ बन चुका, एकीकरण से हमारा मन भर गया और आज करने जैसा हमारे सामने कुछ नही रहा है। फिर भी हम विचारों की कोशिश के द्वारा विशाल संघ के लिए कुछ न कुछ कर रहे हैं। किन्तु सच्ची-सफलता तो तभी मिलेगी जब उसके श्रावक श्राविकाएं अपने उत्तरदायित्व को निभाएंगे और वर्धमान श्रावक संघ का संघठन करेंगे। पुरानी भावनाओं को लेकर किसी की निन्दा और स्तुति नहीं करेंगे। समाज की अच्छाई को अच्छाई और बुराई को बुराई समझेंगे। उस पर तुच्छ सम्प्रदायवादी दृष्टीपात नहीं करेंगे। तभी हमारा सच्चा कल्याण संभव है। आलोचनात्मक अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करते हुए जब हम परस्पर सम्मान, प्रशंसा और गौरव की निगाह रखेगें तभी हमारी उन्नति हो सकती है।

संसार की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने में आज जैन धर्म को अच्छा पार्ट अदा करना है, और ऐसे मौके पर वह एक

कोने में पड़ा रहे, मिथ्या अहंकार में डूबा रहे, तो इससे हमारा क्या बनने वाला है? अतएव अभी अपने अन्दर से जातियता के भाव को निकाल देने चाहिये और जो देश-प्रान्त का प्रश्न है उनको तोड़कर अलग फेंकना चाहिये। आज संसार में आवाज उठ रही हैं कि सारे संसार के मानव एक हैं। अतएव एक समाज में, एक परिवार में ऊंचनीच-महत्वपूर्ण और नगण्य, ओसवाल, अग्रवाल, खण्डेलवाल का नारा बुलन्द करना छोटे मोटे मत भेदों को लेकर-संघर्ष करना और लड़ना इस गलत रूप का आगे आने वाली दुनियां में कुछ महत्व नहीं रहेगा। आगे आने वाली पीढ़ी हमारी इस दुर्भावना पर हंसेगी और मखौल उडायेगी।

वर्धमान श्रमण संघ का रुप आपके सामने है। इसमें भूलें भी हो सकती हैं और हम दावा भी नहीं करते कि इसमें त्रुटियां नहीं। किन्तु हमारा यह दावा जरुर है कि हम अपनी त्रुटियों का, समाधान और परिमार्जन चाहते हैं, और इसके लिए हमारा दिल खुला और साफ है।

किसी जाति में, समाज में, राष्ट्र में या किसी संघ में बुराइयां होना गल्तियां होना यह कोई बड़ी बात नहीं किन्तु भूलों का संशोधन और परिमार्जन करना और गल्तियों को दूर करने के लिए दृढ़ संकल्प मन में रखना यह किसी भी जाति के उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। कोई भी ताकत उसको गिरा नहीं सकती। किन्तु यदि भूल को भूल नहीं समझेंगे तब

तो संसार में कोई उत्थान का मार्ग नहीं रहेगा।

आज स्थानकवासी श्रमण संघ जिस रूप में घना है और चल रहा है। उसमें आपका क्या सहयोग प्राप्त होगा? आपका कितना सद्भाव उसे मिल सकेगा? आपकी विराट चेतना उसमें कितना चैतन्य संचार करेगी?

आज आपको सोचना विचारना है कि इस विषमता के युग में समाज को हजारों विधवाएं, अनाथ बालक अपनी सोचनीय हालत पर आंसू वहा रहे हैं। हजारों नौजवान जीवन के क्षेत्र में काम करना चाहते हैं मगर उन्हें काम नहीं मिल रहा है। उनके दिल में उत्साह का तूफान है, और भावनाओं का सागर लहराता है। मगर उनका भविष्य बनाने के लिए दुःख दूर करने के लिये और उनके जीवन को साधना का विशाल मैदान देने के लिए क्या हो रहा है? क्या आपने इन बातों को कुछ सोचा और निर्णय किया है?

संस्थाएं बनाना और फंड इकट्ठा करना यह साधुओं का काम नहीं, किन्तु आपका काम है। साधुओं से तो केवल प्रेरणा लेनी है। मार्ग साफ करना तो आपके जिम्मे है।

अगर आप यह सोचते हों कि आदर्शों के लिए आगे बढ़कर साधु कोई काम हाथ में ले लेवे तो यह आपकी भूल है—साधु मर्यादा, ऐसा करने की आज्ञा नहीं देती। इस विशाल मानव जाति में जैन धर्म को कोने का धर्म नहीं रहने देना चाहिये। सड़ता हुआ-धर्म के रुप में नहीं रखना चाहिये। जैन

धर्म को साम्प्रदायिक रुप में नहीं, किन्तु शुद्ध जैन धर्म (मानव धर्म) के रूप मे सारे संसार के सामने रखना है। इन बातों पर अगर आपने सोचा है तो ठीक और नहीं सोचा है तो सोचिए और खूब अच्छी तरह् से सोचिए।

यदि आपने साम्प्रदायिकता के ऊपर विजय प्राप्त किया और शुद्ध जैनत्व के नाते और स्था० शुद्ध धर्म के नाते आपने यहां मजबूत संघठन बनाया और इस प्रकार वर्धमान श्रमण संघ का सत्कार सम्मान और प्रतिष्ठा को अपनी तथा अपने मान सम्मान को संघ का समझा तो संघ का, समाज का कल्याण होकर रहेगा और आने वाली पीढ़ी आपके नाम पर श्रद्धावन्त रहेगी और समाज में आपकी याद बनी रहेगी

हम साधुओ ने आचार्योंने, अलग २ चलने वालों ने एक दिन अपनी आचार्य-उपाध्यायादि पदवियों को छोड़ी और गुरु परम्परा को छोड़ी। यह हमारा जैन धर्म की एकता के लिए बहुत बड़ा बलिदान है। किन्तु हमारे-अनुयायियों, जय जयकार करने वालों और साधुओं के लिये सारी शक्ति खर्च करके हजारों की तादाद में जमा खर्च करने वालों ने एवं चातुर्मास में दर्शनों को आने वालों ने यदि श्रमण संघ का साथ न दिया और अपनी गलत धारणाओं में फंसे रहे, चरण तो छुए किन्तु अन्तर्मन को नहीं छुआ, मुंह से हजार हजार जय जयकार बोलो, किन्तु श्रद्धा का एक कार्य भी साधु को अर्पण नहीं किया तो यह संगठन बिखरेगा। यदि आपमें दुर्वलता के भाव नहीं रहे तो

आपकी ताकत बनी रहेगी और आप मजबूत रहेंगे जिससे आपका आने वाला भविष्य भी उज्ज्वल बनेगा।

जोधपुर

तृतीय खण्ड

उद्‍बोधन

: १ :

अनेकान्त दृष्टि

धर्म क्या है ? सत्य की जिज्ञासा, सत्य की साधना, सत्य का सन्धान। सत्य मानव जीवन का परम सार तत्व है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में भागवत प्रवचन है-"सच्चं खु भगवं।" सत्य साक्षात् भगवान है। सत्य अनन्त है, अपरिमित है। इसे परिमित कहना, सीमित करना, एक भूल है। सत्य को बांधने की चेष्टा करना, संघर्ष को जन्म देना है। विवाद को खड़ा करना है। सत्य की उपासना करना धर्म है, और सत्य को अपने तक ही बांध रखना अधर्म है। पन्थ और धर्म में आकाश-पाताल जैसा विराट अन्तर है। पन्थ परिमित है, सत्य अनन्त है। "मेरा सो सच्चा" यह पन्थ की दृष्टि है। "सच्चा सो मेरा" यह सत्य की

दृष्टि है। पन्थ कभी विष रूप भी हो सकता है, सत्य सदा अमृत हो रहता है।

अपने युग के महान् धर्म-वेत्ता, महान् दार्शनिक आचार्य हरिभद्र से एक बार पूछा गया—"इस विराट विश्व में धर्म अनेक हैं, पन्थ नाना हैं, और विचारधारा भिन्न-भिन्न है। "नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।" प्रत्येक मुनि का विचार अलग, धारणा पृथक् है, और मान्यता भिन्न है। कपिल का योग मार्ग है, व्यास का वेदान्त-विचार है, जैमिनी कर्मकाण्डवादी है, सांख्य ज्ञानवादी है—सभी के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। कौन सच्चा, कौन झूठा ? कौन सत्य के निकट है, और कौन सत्य से सुदूर है ? सत्य धर्म का आराधक कौन है, और सत्य धर्म का विराधक कौन है ?

समन्वय वाद के मर्म-वेत्ता आचार्य ने कहा—"चिन्ता की बात क्या ? जौहरी के पास अनेक रत्न बिखरे पड़े रहते हैं। उस के पास यदि खरे खोटे की परख के लिए कसौटी है, तो भय-चिन्ता की बात नहीं। जन-जीवन के परम पारखी परम प्रभु महावीर ने हम को परखने की कसौटी दी है, कला दी है। धर्म कितने भी हों, पन्थ कितने भी हों, विचार कितने भी हों, सत्य कितने भी क्यों न हों ? भय और खतरे की बात नहीं। वह कसौटी क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य ने कहा—समन्वय दृष्टि, विचार पद्धति, अपेक्षावाद, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद ही वह कसौटी है, जिस पर खरा, खरा ही रहेगा

और खोटा, खोटा ही रहेगा।

जिन्दगी की राह में फूल भी हैं, और कांटे भी? फूलों को चुनते चलो, और कांटों को छोड़ते चलो। सत्य का संचय करते रहो,-जहां भी मिले और असत्य का परित्याग करते रहो,-भले वह अपना ही क्यों न हो? विष यदि अपना है, तो भी मारक है, और अमृत यदि पराया है, तो भी तारक है। आचार्य हरिभद्र के शब्दों में कहूँ, तो कहना होगा—

"युक्तिमद् वचनं यस्य,
तस्य कार्यः परिग्रहः।"

जिस की वाणी में सत्यामृत हो, जिसका वचन युक्ति युक्त हो, जिस के पास सत्य हो,-उस के संचय में कभी संकोच मत करो। सत्य जहां भी हो, वहाँ सर्वत्र जैन धर्म रहता ही है। वस्तुतः सत्य एक ही है। भले वह वैदिक परम्परा में मिले, बौद्ध धारा में मिले, या जैन धर्म में मिले। प्रत्येक दार्शनिक परम्परा भिन्न-भिन्न देश, काल और परिस्थिति में सत्य को अंश रूप में, खण्ड रूप में ग्रहण कर के चली है। पूर्ण सत्य तो केवल एक केवली ही जान सकता है। अल्पज्ञ तो वस्तु को अंशरूप में ही ग्रहण कर सकता है। फिर वह दावा कैसे सच्चा हो सकता है, कि मैं जो कहता हूँ, वह सत्य ही है, और दूसरे सब झूठे हैं? वैदिक धर्म में व्यवहार मुख्य है, बौद्ध धर्म करुणा-प्रधान है, और जैन धर्म आचार लक्षी है। वैदिक परम्परा में कर्म, उपासना और ज्ञान को मोक्ष का कारण माना है, बौद्ध धारा में

शील, समाधि और प्रज्ञा को सिद्धि का साधन कहा है, और जैन संस्कृति में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मुक्ति हेतु कहा गया है। परन्तु, सब का ध्येय एक ही है—सत्य को प्राप्त करना।

जिस प्रकार सरल और वक्र मार्ग से प्रवाहित होने वाली भिन्न-भिन्न नदियां अन्त में एक ही महासागर में विलीन हो जाती हैं; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न रुचियों के कारण उद्भव होने वाले समस्त दर्शन एक ही अखण्ड सत्य में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। उपाध्याय यशोविजय भी इस समन्वयवादी दृष्टिकोण को लेकर अपने 'ज्ञान सार' ग्रन्थ में एक परम सत्य का संदर्शन कराते हुए कहते हैं—

"विभिन्ना अपि पन्थानः,
समुद्रं सरितामिव ।
मध्यस्थानां परं ब्रह्म,
प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥"

मैं आप से कह रहा था, कि जो समन्वयवादी हैं, वे सर्वत्र सत्य को देखते हैं। एकत्व में अनेकत्व देखना; और अनेकत्व में एकत्व देखना, यही समन्वयवाद है, स्याद्वाद सिद्धान्त है, विचार पद्धति है, अनेकान्त दृष्टि है। वस्तु तत्व के निर्णय में मध्यस्थ भाव रखकर ही चलना चाहिए। मताग्रह से कभी सत्य का निर्णय नहीं हो सकता। समन्वय दृष्टि मिल जाने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा कोटि

परिमित शास्त्रों के आरटन से भी कोई लाभ नहीं। स्याद्वादी व्यक्ति सहिष्णु होता है। वह राग-द्वेष की आग में झुलसता नहीं। सब धर्मों के सत्य तत्व को आदर भावना से देखता है। विरोधों को सदा उपशमित करता रहता है। उपाध्याय यशोविजय जी कहते हैं—

"स्वागमं रागमात्रेण,
द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा,
किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥"

हम अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का—यदि वे बुरे भी हैं—तो इस लिए आदर नहीं करेंगे, कि वे हमारे हैं। दूसरों के सिद्धान्त—यदि वे निर्दोष हैं—तो इसलिए परित्याग नहीं करेंगे, कि वे दूसरों के हैं। समभाव की दृष्टि से, सर्व-धर्म समानतत्र के विचार में जो भी जीवन-मगल के लिये उपयोगी होगा, उसे सहर्ष स्वीकार करेंगे और जो उपभोगी नहीं है, उसे छोड़ने में जरा भी संकोच नहीं करेंगे। अनेकान्तवादी अपने जीवन व्यवहार में सदा 'भी' को महत्व देता है, 'ही' को नहीं। क्योंकि 'ही' में संघर्ष है, यार विवाद है। 'भी' में समाधान है, सत्य का सन्धान है, सत्य की जिज्ञासा है।

मैं आप से कहता था, कि जैन दर्शन की संधारणा के अनुसार सत्य सबका एक है, यदि वह अपने आप में वस्तुतः सत्य हो, तो? विश्व के समस्त दर्शन, समग्र विचार-पद्धतियाँ, जैन

दर्शन के नयवाद में विलीन हो जाती हैं। ऋजु सूत्र नय में बौद्ध दर्शन, संग्रह नय में वेदान्त, नैगमनय में न्याय-वैशेषिक, शब्दनय में व्याकरण और व्यवहार नय में चार्वाकदर्शन अन्तर्भुक्त हो जाता है। जिस प्रकार रंग-विरंगे फूलों को एक सूत्र में गूँथने पर एक मनोहर माला तैयार हो जाती है, वैसे ही समस्त दर्शनों के सम्मिलन में से जैन दर्शन प्रकट हो जाता है। सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन को विद्वेष नहीं करता। क्योंकि वह सम्पूर्ण नय रूप दर्शनों को वात्सल्य भरी दृष्टि से देखता है, जैसे एक पिता अपने समस्त पुत्रों को स्नेह मयी दृष्टि से देखता है। इसी भावना को लेकर अध्यात्मवादी सन्त आनन्दघन ने कहा है—

> "षड दरसण जिन अंग भणीजे,
> न्याय षडंग जो साधे रे।
> 'नमि' जिनवरणा चरण उपासक,
> षड् दर्शन आराधे रे॥"

अध्यात्म योगी सन्त आनन्द घन ने अपने युग के उन लोगों को करारी फटकार बताई है, जो गच्छवाद का पोषण करते थे, पन्थशाली को प्रेरणा देते थे, और मत भेद के कटु बीज बोते थे। फिर भी जो अपने आप को सन्त और साधक कहने में अमित-गर्व का अनुभव करते थे। 'ही' के सिद्धान्त में विश्वास रखकर भी जो 'भी' के सिद्धान्त का सुन्दर उपदेश झाड़ते थे। आनन्द घन ने स्पष्ट भाषा में कहा—

"गच्छना भेद बहु नयण निहालतां,
तत्व नी वात करतां न लाजे ।
उदर भरणादि निज काज करतां थकां,
मोह नडीआ कलिकाल राजे ॥"

मैं आप से कह रहा था, कि जब तक जीवन में अनेकान्त का वसन्त नहीं आता, तब तक जीवन हरा-भरा नहीं हो सकता। उस में समता के पुष्प नहीं खिल सकते। सम भाव, सर्व धर्म समता, समन्वय, स्याद्वाद और अनेकान्त केवल वाणी में ही नहीं, बल्कि जीवन के उपवन में उतरना चाहिए। तभी धर्म की आराधना और सत्य की साधना की जा सकती है।

अभी तक मैं समन्वयवाद की, स्याद्वाद की और अनेकान्त दृष्टि की शास्त्रीय व्याख्या कर रहा था। परन्तु अब अनेकान्त दृष्टि की व्यावहारिक व्याख्या भी करनी होगी। क्योंकि अनेकान्त या स्याद्वाद केवल सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि जीवन के क्षेत्र में एक मधुर प्रयोग भी है। विचार और व्यवहार जीवन के दोनों क्षेत्रों में इस सिद्धान्त की समान रूप से प्रतिष्ठापना है। स्याद्वाद या अनेकान्त क्या है? इस प्रश्न का व्यावहारिक समाधान भी करना ही होगा, और आचार्यों ने वैसा प्रयत्न किया भी है।

शिष्य ने आचार्य से पूछा—"भगवन्, जिन वाणी का सार भूत तत्व यह अनेकान्त और स्याद्वाद क्या है? इसका मानव जीवन में क्या उपयोग है? शिष्य की जिज्ञासा ने आचार्य के

शान्त मानस में एक हल्का सा कम्पन पैदा कर दिया। परन्तु कुछ क्षणों तक आचार्य इसलिए मौन बने रहे, कि उस महा सिद्धान्त को इस लघुमति शिष्य के मन में कैसे उतारूं ? आखिर, आचार्य ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से स्थूल जगत के माध्यम से स्याद्वाद की व्याख्या प्रारम्भ की। आचार्य ने अपना एक हाथ खड़ा किया, और कनिष्ठा तथा अनामिका अंगुलियों को शिष्य के सम्मुख करते हुए आचार्य ने पूछा—बोलो, दोनों में छोटी कौन और बड़ी कौन ? शिष्य ने तपाक से कहा अनामिका बड़ी है, और कनिष्ठा छोटी। आचार्य ने अपनी कनिष्ठा अंगुली समेट ली और मध्यमा को प्रसारित करके शिष्य से पूछा—"बोलो, तो अब कौन छोटी और कौन बड़ी ? शिष्य ने सहज भाव से कहा-अब अनामिका छोटी है, और मध्यमा बड़ी। आचार्य ने मुस्कान के साथ कहा—वत्स, यही तो स्याद्वाद है। अपेक्षा भेद से जैसे एक ही अंगुली कभी बड़ी और कभी छोटी हो सकती है, वैसे ही अनेक धर्मात्मक एक ही वस्तु में कभी किसी धर्म की मुख्यता रहती है, कभी उसकी गौणता हो जाती है। जैसे आत्मा को ही लो ! यह नित्य भी है, और अनित्य भी। द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य। व्यवहार में यह जो अपेक्षावाद है, वही वस्तुत: स्याद्वाद और अनेकान्तवाद है। वस्तु तत्व को समझने का एक दृष्टि-कोण विशेष है। विचार प्रकाशन की एक शैली है, विचार प्रकटीकरण की एक पद्धति है।

समन्वयवाद, स्याद्वाद और अनेकान्तदृष्टि के मूल बीज आगमों में, वीतराग वाणी में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। परन्तु, स्याद्वाद को विशद और व्यवस्थित व्याख्याकारों में सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलंक देव, यशोविजय और माणिक्य नन्दि मुख्य हैं, जिन्होंने स्याद्वाद को विराट रूप दिया, महा सिद्धान्त बना दिया। उस की मूल भावना को अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित किया। उस की युग स्पर्शी व्याख्या कर के उसे मानव जीवन का उपयोगी सिद्धान्त बना दिया।

स्याद्वाद के समर्थ व्याख्याकार आचार्यों के समक्ष जब विरोध पक्ष की ओर से यह प्रश्न आया, कि "एक ही वस्तु में एक साथ, उत्पत्ति, क्षति और स्थिति, कैसे घटित हो सकती है? तब समन्वयवादी आचार्यों ने एक स्वर में, एक भावना में यों कहा, यह समाधान किया—

तीन मित्र बाजार में गए। एक सोने का कलश लेने, दूसरा सोने का ताज लेने और तीसरा खालिस सोना लेने। देखा, उन तीनों साथियों ने एक सुनार अपनी दूकान पर बैठा सोने के कलश को तोड़ रहा है। पूछा—इसे क्यों तोड़ रहे हो? जवाब मिला—इसका ताज बनाना है। एक ही स्वर्ण वस्तु में कलशार्थी ने क्षति देखी, ताजार्थी ने उत्पत्ति देखी और शुद्ध स्वर्णार्थी ने स्थिति देखी। प्रत्येक वस्तु में प्रतिपल उत्पत्ति, क्षति और स्थिति चलती रहती है. पर्याय की अपेक्षा से उत्पत्ति और क्षति तथा द्रव्य

की अपेक्षा से स्थिति बनी रहती है। इस प्रकार एक ही वस्तु में तीनों धर्म रह सकते हैं, उन में परस्पर कोई विरोध नहीं है। स्याद्वाद वस्तुगत अनेक धर्मों में समन्वय साधता है, संगति करता है। विरोधों का अपेक्षा भेद से समाधान करता है।

स्याद्वादी आचार्यों का कथन है, कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। एक वस्तु में अनेक धर्म हैं, अनन्त धर्म हैं। किसी भी वस्तु का परिबोध करने में नय और प्रमाण की अपेक्षा रहती है। वस्तुगत किसी एक धर्म का परिबोध नय से होता है, और वस्तुगत अनेक धर्मों का एक साथ परिबोध करना हो, तो प्रमाण से होता है। किसी भी वस्तु का परिज्ञान नय और प्रमाण के बिना नहीं हो सकता। स्याद्वाद को समझने के लिए नय और प्रमाण के स्वरूप को समझना भी आवश्यक है।

मैं आप से कह रहा था, कि स्याद्वाद, समन्वय वाद, और अपेक्षावाद अनेकान्त दृष्टि—जैन दर्शन का हृदय है। विश्व को एक अनुपम और मौलिक देन है। मत भेद, मताग्रह और वाद विवाद को मिटाने में अनेकान्त एक न्यायाधीश के समान है। विचार क्षेत्र में, जिसे अनेकान्त कहा है, व्यवहार क्षेत्र में वह अहिंसा है। इस प्रकार "आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त" यह जैन धर्म की विशेषता है। क्या ही अच्छा होता? यदि आज का मानव इस अनेकान्त दृष्टि को अपने जीवन में, परिवार में, समाज में और राष्ट्र में ढाल पाता, उतार पाता?

:२:

सच्चा साधक: सम्यग्दृष्टि

मनुष्य का जीवन क्या है! एक नाटक, जिस में एक के बाद एक दृश्य बदलता ही रहता है। आप में से बहुत-सों ने सिनेमा देखा होगा। चित्र पट पर कितने लुभावने चित्र आते हैं, और तेजी से चले जाते हैं। कभी सुन्दर दृश्य आता है, तो कभी बुरा भी। सुन्दर दृश्य को देखकर आप प्रसन्न होते हैं, और बुरे को देखकर खिन्न हो जाते हैं। आप के चित्त पर चित्र पटों का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है। आप कितने प्रभावित होते हैं। मैं आप से कह रहा था कि यह संसार भी एक सिनेमा है, एक चित्रपट है, एक नाटक है, जिसके पात्र आप स्वयं हैं। जीवन में कभी हर्ष के दृश्य, तो कभी विषाद के दृश्य

उपस्थित होते रहते हैं। सुख और दुःख जीवन में धूप-छाया की तरह आते जाते हैं। कवि की वाणी में जीवन के सम्बन्ध में हमें कहना होगा—

"जीवन के अविराम समर में,
कभी हार है, जीत कभी।
कभी पराजय का रोना है,
गाना जय के गीत कभी॥"

जीवन के सिनेमा में कभी हार, कभी जीत। कभी हर्ष, कभी विषाद। कभी रोना, कभी गाना-ये सब चलते रहते हैं।

मिथ्या दृष्टि आत्मा इस संसार को सत्य और यहां के पदार्थों को सत्य और शाश्वत समझ कर दिन-रात उन की प्राप्ति में लगा रहता है। धन और जन के संयोग से वह हर्षित हो उठता है, और वियोग से विचलित। धन और जन के नाश को वह अपना विनाश समझ लेता है, देह की दीवार को भेद कर वह देही के तेज को पहचान नहीं पाता। वह शुभ को देख कर प्रसन्न होता है, और अशुभ को देख कर खिन्न। पुण्य और पाप की भावनाओं के घेरे से वह निकल नहीं सकता। जीवन के चल चित्र में सुन्दर दृश्य आया, तो वह नाचने लगता है, और बुरा दृश्य आया, तो रोने-चिल्लाने लगता है। उसके जीवन में सुख, सन्तोष और शान्ति नहीं। सदा बेकरार, बेचैन बना रहता है।

इस के विपरीत सम्यग्दृष्टि आत्मा इस विराट्-विश्व को

अपना शाश्वत निवास स्थान कभी नहीं मानता, यहाँ के पौद्गलिक पदार्थों को क्षण नाशी समझता है। धन और जन के संयोग से हर्षित नहीं, और वियोग से विचलित नहीं होता। धन और जन के नाश को वह अपना नाश कभी नहीं मानता। उसका वीतराग वाणी में अटल व अडिग विश्वास होता है कि—"नत्थि जीवस्स नासोत्ति।" देह के भीतर स्थित देही को वह पहचानता है। "मैं देह नहीं हूं, देही हूँ" इस प्रकार उसे दृढ निष्ठा होती है। पाप और पुण्य की भावनाओं के घेरे से ऊपर उठ कर वह धर्म की भावना में स्थित रहता है। शुभ और अशुभ भावों को छोड़कर वह शुद्ध भाव की उपासना करता है। शुद्ध-योग की साधना करता है। हर्ष में हर्षित नहीं, विषाद में विषण्ण नहीं। वह अपने अध्यात्म मार्ग पर मस्त होकर चलता रहता है। अतएव उसके जीवन में सुख, सन्तोष और शान्ति रहती है।

मानव जीवन के दो पक्ष होते हैं—कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष। पहला अन्धकार का दूसरा प्रकाश का। जीवन की यात्रा में बहिर्मुखी होकर चलना, पहला पक्ष और अन्तर्मुखी होकर चलना दूसरा पक्ष। विभाव दशा में रखड़ना कृष्ण पक्ष और स्वभाव दशा में रमण करना शुक्ल पक्ष। कृष्ण पक्ष वाला विवेक हीन होता है, और शुक्ल पक्ष वाला विवेक शील होता है। विवेक धर्म है, और अविवेक अधर्म है।

मैं आप से कह रहा था, कि सुख और दुःख जीवन में धूप छाया की तरह आते हैं। मिथ्या दृष्टि और सम्यग्दृष्टि

दृष्टि की विचारणा में यही जादू है। सच्चा साधक तो विष को भी अमृत बना लेता है। सच्चा साधक मृत्यु के महाकराल मुख में जाता हुआ भी यही कहेगा—

"देह विनाशी, मैं अविनाशी,
अजर अमर चित मेरा।"

जैन सिद्धान्त का कहना है, कि एक बार सत्य दृष्टि मिली तो फिर बेड़ा पार है। जैसे सूत्र सहित सुई खो जाने पर भी शीघ्र ही मिल जाती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि कदाचित संसार में भटक भी जाए, तो भी अपने आपको संभाल लेता है। वह गिर कर भी सदा के लिए नहीं गिरता है जैसे रबर की गेंद को जमीन पर पटकने पर वह और अधिक वेग से ऊपर उछलती है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी सदा ऊर्ध्वगामी रहता है। कभी गिर भी पड़ेगा, तो वापिस दूने वेग से ऊपर उठेगा।

संसार में तीन प्रकार के जीव हैं-एक वे जो कभी गिरते नहीं, दूसरे वे जो गिर गिर कर भी संभल जाते हैं, और तीसरे वे जो गिर कर कभी संभलते ही नहीं—गिरे तो गिरते ही रहे। जो कभी गिरते नहीं, वे देव हैं, अरिहन्त हैं। क्योंकि पतन का कारण कषाय भाव उन में नहीं है। मिथ्यात्व और प्रमाद भी नहीं है। भूल का मूल ही नहीं, तो फिर भूल ही भी तो कैसे हो ? जो गिरते हैं, पर गिरकर संभल जाते हैं, वे साधक हैं, सन्त हैं। सन्त अपनी भूल को कभी छुपाता नहीं। भूल को भूल स्वीकार करने वाला साधक सम्यग्दृष्टि है। प्रमाद और

कषाय के कारण वह साधना के पथ पर से कभी गिर भी पड़ता है, परन्तु फिर शीघ्र ही संभल जाता है, क्योंकि वह सच्चा साधक है। जो गिर कर कभी उठता नहीं, वह मिथ्या दृष्टि है। गिरा तो मिट्टी के ढेले की तरह पड़ा ही रहा। क्योंकि मिथ्यात्व भाव के कारण वह अपनी भूल को कभी भूल स्वीकार नहीं करता। यही कारण है, इस प्रकार की आत्मा का निरन्तर पतन होता रहता है। कवि की वाणी में कहना होगा कि—

"गिरकर उठना, उठकर गिरना,
है यह जीवन का व्यापार।"

गिरना उतना बुरा नहीं, जितना कि गिरकर पड़े ही रहना और उत्थान के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न ही न करना।

मैं आप से कह रहा था, कि सम्यग्दृष्टि आत्म-तत्व का पारखी होता है। वह दूसरा कुछ जानता हो, या न जानता हो? पर इतना तो वह अवश्य जानता है. कि आत्मा है। वह कषाय युक्त है, उसे कषाय मुक्त बनाना है। आकाश में काले बादल कितने भी सघन क्यों न हों? किन्तु अन्त में सूर्य की ही विजय होती है। सम्यग्दृष्टि की जीवन दृष्टि यही रहती है। आत्मा को विकृत अवस्था से संस्कृत अवस्था में ले जाना उसके जीवन का ध्येय होता है। समभाव की साधना से वह शुद्ध बुद्ध और मुक्त होने का सतत प्रयत्न करता रहता है।

: ३ :

संसार बुरा नहीं, व्यक्ति की दृष्टि बुरी है।

मानव जीवन विकास का एक मुख्य साधन है, जिसके द्वारा अपने कर्तव्य का योग्य रीति से पालन करने का सामर्थ्य अधिगत करके मनुष्य अपने साध्य की ओर तेजी से बढ़ सकता है। मानव जीवन ही सर्वोच्च क्यों है? क्योंकि इस में आत्मा का सर्वांगीण विकास हो सकता है। मनुष्य से नीचे स्तर पर पशु का जीवन आता है, और उस से नीचे स्तर पर देव-जीवन आता है। देव जीवन के सम्बन्ध में यह कथन आश्चर्य की वस्तु नहीं, क्योंकि जैन संस्कृति में जीवन की सफलता का मुख्य आधार धर्म साधना है। देव जीवन में यह साधना नहीं की जा सकती। धर्म की साधना कर्मभूमि में होती है, भोग भूमि में नहीं। देवत्व

भोग भूमि है, और मनुष्यत्व है, कर्म भूमि। इसी कारण मानव जीवन की श्रेष्ठता सिद्ध है।

मैं कहता हूं, मानव देह प्राप्त करना ही जीवन की इति नहीं है। समस्या का हल यहीं नहीं हो पाता ? सब से बड़ी बात है, मानव देह में मानवता प्राप्त करना। यदि मानवता नहीं है, तो फिर मानव देह भी निरर्थक है। यदि मानवता है, तो मानव देह का भी मूल्य है। जिस कार्य के लिए जो पात्र बनाया जाए, और फिर भी वह पात्र उस कार्य की सिद्धि न कर सके, तो उस पात्र से लाभ क्या ? मानवता के बिना मानव जीवन की सिद्धि नहीं।

संसार क्या है ? एक कर्म भूमि। एक कर्म क्षेत्र। मनुष्य है, उस कर्म भूमि का, उस कर्म क्षेत्र का कर्म योगी। मनुष्य संघर्ष तो करता ही है, परन्तु देखना यह है, कि वह संघर्ष किस लिए करता है ? स्वार्थ के लिए, या त्याग के लिए ? भोग के लिए, या योग के लिए ? नीति के लिए, या अनीति के लिए ? धर्म के लिए, या अधर्म के लिए ? संघर्ष तो होना चाहिए, पर न्याय नीति के लिए होना चाहिए। इसी में मनुष्य जीवन की विशेषता है। अपने मन्द मुस्कान की आनन्द रश्मियों से आप कितनों के मुकुलित मानसों को विकसित कर सकते हो ? इसी में मानव जीवन की सफलता के दर्शन होते हैं।

कवि की वाणी में गाना होगा—

"मानव होकर मानवता से,
तुम ने कितना प्यार किया है ?

इस जीवन में तुम ने कितना,
औरों का उपकार किया है ॥"

अल्प शब्दों में कहा जाए, तो निज के मानस को अधिक से अधिक उदात्त बनाना ही सच्ची मानवता है। जिस सरस मानस में समूचा संसार समा सके, विश्व-बांधवता का सुन्दर अंकुर फूट सके, वह मनुष्य एक सच्चा मनुष्य है। मानवता का आधार क्षेत्र वही है। वही है, देवताओं का प्यारा इन्सान। इस प्रकार का मानवत्व बिना त्याग-वैराग्य के प्राप्त नहीं हो सकता। भोगासक्ति में मनुष्य अपना मनुष्यत्व भूल जाता है।

जीवन में त्याग-वैराग्य की बड़ी आवश्यकता है-क्योंकि उसके बिना जीवन में चमक-दमक नहीं आ पाती-पर वह संस्कृत रूप में होना चाहिए, विकृत रूप में नहीं। वह सजग और सतेज चाहिए, निर्जीव और निष्प्राण नहीं। मुझे याद है, एक बार एक अनभोल बालक के मुख से सुना—

"मात-पिता सारे झूठे हैं,
झूठा है, संसार।

यह वैराग्य, जो अज्ञान बालकों के मन में बैठ जाता है, कोई सच्चा वैराग्य नहीं है। इस से जीवन का निर्माण नहीं हो सकता। मात-पिता झूठे, सारा संसार झूठा, संसार में कोई मेरा नहीं। इस का मतलब क्या? क्या दुनियां में जन्म देने वाले और लालन-पालन करने वाले मात-पिता भी झूठे, धोखा देने वाले और फरेब बाज हैं? क्या समूचा संसार मक्कारों से

ही भरा है ? इसमें सच्चा कोई नहीं ? मैं समझता हूँ, यह एक मृत वैराग्य है। जड भरत का अज्ञान पूर्ण वैराग्य है। इस से जीवन का विकास नहीं हो सकता। संसार में रहकर भी संसार की आसक्ति में न फंसना, ही सच्चा वैराग्य है। संसार को झूठा कहना, मात-पिता को झूठे कहना, कुटुम्ब परिवार को राक्षस कहना-यह कोई वैराग्य की परिभाषा नहीं। समूचा संसार कभी झूठा नहीं हो सकता। संसार बुरा नहीं, व्यक्ति की दृष्टि बुरी है। संसार तो एक कर्म भूमि है, एक कर्म क्षेत्र है। जिसका जैसा जी चाहे, अपने आपको बना सकता है। देव भी और राक्षस भी। दृष्टि का फेर है। संसार नरक भी हो सकता है—यदि दृष्टि पाप पूर्ण है, तो। अन्यथा मैं समझता हूँ, कि यही संसार स्वर्ग भी हो सकता है। स्वर्ग का अर्थ यहाँ, देवों का स्वर्ग न समझें। मैं यहां उस स्वर्ग की बात कह रहा हूँ, जिस स्वर्ग की बात व्यास ने अपने महाभारत में कही है। स्वर्ग क्या है ? व्यास ने कहा—"स्वर्गःसत्त्वगुणोदयः।" सात्विक गुणों का विकास करना, यही तो स्वर्ग है। दृष्टि को बदलते ही यह नरकमय संसार भी स्वर्गमय संसार बन जाएगा।

मैं कहता हूँ, कि अपने आप को तोलकर और सही दिशा में अपनी दृष्टि स्थिर कर के जब कोई इस संसार संघर्ष में उतरेगा, तो उसे संसार बुरा नही लगेगा। वह उस से भागना नहीं चाहेगा, वह संसार को और मात-पिता को झूठा नहीं कहेगा, बल्कि संसार में फैली हुई विकृति को वह अपनी कमज़ोरी

समझेगा और उससे लड़ना चाहेगा। जीवन संघर्ष के लिए है, यह सत्य है। पर वह संघर्ष होना चाहिए, समाज में और राष्ट्र में फैले हुए उन भ्रान्त विचारों और गलत परम्पराओं के विरोध में, जो मानव जीवन को रूढि-ग्रस्त व प्रगति-विरोधी बना देते हैं, और उन स्वार्थमय तुच्छ-वादों के विरुद्ध जो अखण्ड मानव जाति को टुकड़ों-टुकड़ों में बांट कर हृदय हीन बना देते हैं। जाति, कुल, पन्थ-आज इन सब बेड़ियों को काट डालने की आवश्यकता है। मानवता की मशाल को ज्योतित रखने वाला, अपने विमल प्रेम की विशाल भुजाओं में सारे संसार को लिपटा लेने के लिए आगे बढ़ेगा। आज का युग सहयोग और सह अस्तित्व का युग है। यह वृत्ति सामाजिक जीवन का प्राण तत्व है। स्नेह, सद्भाव और समता से मानवता का विकास होता है, अभ्युदय होता है।

भगवान महावीर ने कहा है, कि मुक्ति किसी को भी हो? परन्तु असंविभागी को नहीं हो सकती। कितना सुन्दर सिद्धांत है? जो बांट कर खाना नहीं चाहता, जो सब कुछ अपने लिए ही संग्रह कर रखना चाहता है, वह राक्षसी वृत्ति का मनुष्य है। पूंजीवादी मनोवृत्ति का मनुष्य सब को लूटने की भावना रखता है। भारत की संस्कृति में तो यह कहा गया है, कि—"शत हस्तं समाहर, सहस्रहस्तं संकिर।" मनुष्य तू सैकड़ों हाथों से संचय कर, पर हजारों हाथों से देना भी मत भूल। त्याग पूर्वक ही भोग कर। तू सुखी हो, यह तेरा अधिकार है, पर दूसरों

को भी सुखी रहने दे। अपने सुख-कणों को बटोर कर मत बैठ, बिखेरता चल, जीवन यात्रा में। यही त्याग-वैराग्य की सच्ची भावना है, जिस की बात मैं कह रहा था।

आज का पश्चिम भौतिकवादी है, सत्तावादी है, नियन्त्रण वादी है, परन्तु वह सहृदय नहीं है। संयम का अभाव होने से युद्धों में रत रहता है। और आज का पूर्व, वह भूखा है, अभाव ग्रस्त है। आध्यात्मिकता का नारा उसके गले से नीचे नहीं उतरता। अभावों की पीड़ा से वह पीड़ित है, धर्म न अति सुख में है, और न अति दुःख में। भौतिकता और आध्यात्मिकता का सन्तुलन होना चाहिए। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। न कि विरोधी। भौतिकता यदि स्वच्छन्द घोड़ा है, तो आध्यात्मिकता उसकी लगाम है। बिना लगाम का घोड़ा खतर-नाक होता है। भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वय से जागतिक विकास सम्भव है।

अब मैं, फिर अपनी मूल बात पर आ जाता हूँ। मनुष्य जब मनुष्यता प्राप्त कर लेगा, मनुष्य जब सच्चे अर्थों में त्याग वैराग्य को जीवन में ढाल पाएगा, और जब मनुष्य सहृदय बन सकेगा, तभी वह अपना, परिवार का, समाज का और राष्ट्र का कल्याण कर सकेगा। विकास कर सकेगा, संसार को बदलने की अपेक्षा मनुष्य पहले अपने आपको बदले। दूसरों को बुरा कहने से पूर्व जरा अपने अन्दर भी झांक ले। कहीं अपने अन्दर ही तो बुरापन नहीं है। दृष्टि बदलो, तो सृष्टि

अपने आप ही बदल जायगी। व्यक्ति कदाचित् बुरा हो सकता है, परन्तु सारा संसार कभी बुरा नहीं होता।

जोधपुर, सिंहपोल ११-१-५३

:४:

पत्रकार सम्मेलन में, कविरत्न श्रद्धेय अमरचन्द्रजी

प्रश्न—धर्म क्या है ? व्यक्ति के विकास में उसका क्या महत्व है ? क्या व्यक्ति के विकास में सामाजिक धरातल भी आवश्यक है ?

समाधान—धर्म की परिभाषा एक नहीं, हजारों हैं। किन्तु कोरे शब्द प्रपंच से ऊपर उठकर धर्म को समझने का प्रयत्न किया जाए, तो मैं समझता हूँ, धर्म की परिभाषा यह होगी—"धर्म मानव मन के अन्तर की वह शुद्ध प्रेरणा है, जिस से मनुष्य सन्मार्ग में प्रवृत्त होता है। भय और प्रलोभन के अभाव में अपने अन्तःकरण की स्वतः प्रेरणा से मनुष्य जो शुद्ध प्रवृत्ति करता है, वस्तुतः वही सच्चा धर्म है।" उदाहरण के रूप

में समझिए—"आपके सामने चार मनुष्य खड़े हैं, इन चारों से आप यह प्रश्न पूछिए, कि तुम अन्याय, अनीति और अनाचार क्यों नहीं करते हो ? अब आप इन का उत्तर सुनिए—

प्रथम—कर तो लूँ, परन्तु राज्य दण्ड का भय है। जेल में पड़े रहकर सड़ना पड़े, पिटना पड़े।

द्वितीय—कर तो लूं किन्तु समाज का भय है। समाज के लोग क्या कहेंगे ? मेरा बहिष्कार कर देंगे।

तृतीय—कर तो लूँ, पर नरक में जाने का भय है। नरक की तीव्र वेदना भोगनी पड़ेगी।

चतुर्थ—मैं अन्याय, अनीति और अनाचार नहीं कर सकता। क्योंकि वैसा करने को मेरा अन्तर मन तैयार नहीं है। वैसा करने का कभी विचार और संकल्प भी नहीं होता।

आप ने सुना, इन चारों का उत्तर। केवल चतुर्थ व्यक्ति ही सच्चा धर्मशील है। क्योंकि वह भय और प्रलोभन की भूमिका से ऊपर उठकर अपनी अन्तः प्रेरणा से पाप नहीं करता। शेष तीन पाप करने को तत्पर हैं ! परन्तु भय बाधक बना है। पाप करने की अभिरुचि अवश्य है, किन्तु-राज-भय, समाज-भय और नरक-भय करने नहीं देता। इस प्रकार की विवशता में धर्म नहीं पनप सकता। धर्म तो मानव के शुद्ध हृदय में ही अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। भगवान महावीर की वाणी में—"धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।" जिस व्यक्ति के मन में छलना नहीं, माया नहीं, भय नहीं, और लोभ नहीं,

वहां धर्म अवश्य होगा। धर्म मानव को प्रसुप्ति से जागृति की ओर ले जाता है। धर्म आत्मा की एक शक्ति है, जिस से मनुष्य जीवन सुघड़, सुदृढ और संस्कृत बनता है। धर्म व्यक्ति के विकास की जड़ है। धर्म व्यक्ति का निर्माण करता है, और उसे विकास की ओर चलने को उत्प्रेरित करता है। धर्म जड़ नहीं, एक गतिशील शक्ति है, क्रियात्मक प्रयोग है।

मैं समझता हूँ, कि व्यक्ति के विकास में सामाजिक धरातल भी आवश्यक है। यदि सामाजिक धरातल से आपका अभिप्राय भौतिकता की ओर संकेत है, तो मुझे स्पष्ट कहना होगा, कि व्यक्ति के विकास के लिए वह भी आवश्यक है। आज अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के सम्बन्ध में जो धारणाएं प्रचलित हैं, वे सर्वथा दोष रहित नहीं हैं। मेरे विचार में दोनों के समन्वय से दोनों के सन्तुलन से व्यक्ति का विकास उच्चस्तरीय हो सकता है। दोनों वाद परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधक नहीं हैं। समाज का भौतिक इस प्रकार का चाहिए, कि व्यक्ति के पैर आसानी से आगे बढ़ने के लिए उठ सकें। भौतिकता का अविकास भी सर्वसाधारण को पतन की ओर उन्मुख कर सकता है। अभाव की चोट मनुष्य कठिनता से सहन कर पाता है। भौतिकवाद के सम्बन्ध में मेरी यह धारणा है, कि वह अध्यात्मवाद से अनुप्राणित हो। भगवान् महावीर के संविभागवाद के आधार पर यदि भौतिक विकास होता है, तो उस से जीवन में कोई खतरा नहीं होगा।

इस दृष्टि से व्यक्ति विकास में सामाजिक धरातल आवश्यक है।

प्रश्न—धर्म में वैराग्य का क्या स्थान है? और विरागी व्यक्ति का संसार के प्रति क्या दृष्टिकोण रहता है?

समाधान—वैराग्य के तीन रूप हैं-दुःख मूलक मोह मूलक और ज्ञान मूलक। विशुद्ध वैराग्य वही है, जिसका मूल आधार ज्ञान है, विवेक है। दुःख मूलक और मोह मूलक वैराग्य में पतन का भय बना रहता है।

मेरा अपना दृष्टिकोण यह है, कि धर्म को जीवित रखने के लिए वैराग्य परम आवश्यक तत्व है। क्योंकि उसके बिना जीवन स्थिर नहीं हो पाता। वैराग्य संसार से नहीं, सांसारिकता से होना चाहिए। संसार बुरा नहीं, सांसारिकता बुरी बला है, जिस से व्यक्ति का निरन्तर पतन होता रहता है। विरागी का संसार के प्रति यही विशुद्ध दृष्टिकोण बना रहना चाहिए।

प्रश्न—धनागम पुण्य रूप है, या पाप रूप है?

समाधान—शास्त्रों में पाप के पाँच प्रकार हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह, अर्थात् संग्रह। प्रथम से चतुर्थ तक पाप की धारा स्पष्ट ही है। न जाने पंचम पर आकर लोक मानस का रास्ता मोड़ क्यों खा जाता है? यह मुझे समझ में नहीं आता। धनागम के बारे में समाज में आज जो विचार फैला है वह मध्ययुगीन सामन्तवादी प्रवाह से

प्रभावित है। धन प्राप्ति को एकान्त पुण्य और एकान्त पाप रूप में नहीं माना जा सकता। धन अपने आप में जड़ है, वह न पाप रूप है, और न पुण्य रूप। उस को प्राप्ति का प्रकार व्यक्ति की भावना पर अधिक आधारित रहता है।

प्रश्न—धर्म परिवर्तन शील है, या अपरिवर्तन शील है?

समाधान—जैन धर्म स्याद्वाद को मानता है। मैं कहूँगा, कि धर्म के दोनों रूप स्वीकार्य होने चाहिएं। एक आम्रतरु है। वह हर साल नये पत्तों और नये फलों के रूप में परिवर्तित होता है। परन्तु मूल रूप में, जड़ रूप में वह परिवर्तित नहीं होता। आम्र वृक्ष बदला भी और नहीं भी बदला। धर्म के सम्बन्ध में भी यही सत्य लागू पड़ता है। धर्म का बाह्य रूप युगानुरूप बदलता रहता है, और आन्तरिक रूप शाश्वत है। धर्म का मूल रूप स्थिर है, और बाहरी रुप परिवर्तनशील। इस प्रकार धर्म परिवर्तनशील भी है, और अपरिवर्तन शील भी।

प्रश्न—स्वर्ग और नरक के विषय में आप के क्या विचार हैं?

समाधान—स्वर्ग और नरक स्थान-विशेष रहें, इस में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु, वे जीवन की स्थिति विशेष भी हैं-इस से इन्कार नहीं होना चाहिए।

प्रश्न—सुख और दुःख की वास्तविक व्याख्याएं क्या हो सकती हैं?

समाधान—सुख और दुःख की कोई निश्चित और निर्धा-

रित व्याख्या करना आसान नहीं है। क्योंकि इस सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों के अनुभव विभिन्न होते हैं। एक का सुख दूसरे को दुःख रूप भी हो सकता है। और एक का दुःख दूसरे को सुख भी। अतः सुख-दुःख की कोई स्थिर व्याख्या नहीं की जा सकती। हाँ, सुख-दुःख की इतनी परिभाषा की जा सकती है, कि अनुकूलता सुख है, और प्रतिकूलता दुःख।

संक्षेप में ये हैं, वे प्रश्न और समाधान, जो कविरत्न जी महाराज ने जोधपुर पत्रकार सम्मेलन में अभिव्यक्त किएथे।

जोधपुर जनवरी १९-५२
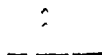
:५:

पंचशील और पंच शिक्षा

वर्तमान युग में दो प्रयोग चल रहे हैं—एक अणु का दूसरा सह अस्तित्व का। एक भौतिक है, दूसरा आध्यात्मिक। एक मारक है, दूसरा तारक। एक मृत्यु है, दूसरा जीवन। एक विष है, दूसरा अमृत।

अणु प्रयोग का नारा है,—"मैं विश्व की महान् शक्ति हूँ, संसार का अमित बल हूँ, मेरे सामने झुको, या मरो।" जिस के पास मैं नहीं हूँ, उसे विश्व में जीवित रहने का अधिकार नहीं है। क्योंकि मेरे अभाव में उस का सम्मान सुरक्षित नहीं रह सकता।"

सह अस्तित्व का नारा है—"आओ, हम सब मिल कर

चलें, मिलकर बैठें और मिलकर जीवित रहें, मिलकर मरें भी। परस्पर विचारों में भेद है, कोई भय नहीं। कार्य करने की पद्धति विभिन्न हैं, कोई खतरा नहीं। क्योंकि तन भले ही भिन्न हों, पर मन हमारा एक है। जीना साथ है, मरना साथ है, क्योंकि हम सब मानव हैं, और मानव एक साथ ही रह सकते हैं, बिखर कर नहीं, बिगड़ कर नहीं।"

पश्चिम अपनी जीवन यात्रा अणु के बल पर चला रहा है, और पूर्व सह अस्तित्व की शक्ति से। पश्चिम देह पर शासन करता है, और पूर्व देही पर। पश्चिम तलवार-तीर में विश्वास रखता है, पूर्व मानव के अन्तर मन में मानव की साहजिक स्नेह शीलता में।

आज की राजनीति में विरोध है, विग्रह है, कलह है, असन्तोष और अशान्ति है। नीति,-भले ही राजा की हो, या प्रजा की-अपने आप में पवित्र है, शुद्ध और निर्मल है। क्योंकि उस का कार्य जग कल्याण है, जग विनाश नहीं। नीति का अर्थ है, जीवन की कसौटी, जीवन की प्रामाणिकता, जीवन की सत्यता। विग्रह और कलह को वहां अवकाश नहीं। क्योंकि वहां स्वार्थ और वासना का दमन होता है। और धर्म क्या है? सब के प्रति मंगल भावना। सब के सुख में सुख-बुद्धि और सब के दुःख में दुःख बुद्धि। समत्व योग की इस पवित्र भावना को धर्म नाम से कहा गया है। यों मेरे विचार में धर्म और नीति सिक्के के दो बाजू हैं। दोनों की जीवन-विकास में आवश्यकता भी है। यह प्रश्न अलग है, कि राजनीति में धर्म

का जादू फैल रहा है।

मैं आप को यह बताने का प्रयत्न करूँगा, कि पंचशील क्या है? इस का मूल कहाँ है! और यह पल्लवित कैसे हुआ? सब से पहले मैं, राजनीति में प्रचलित पंचशील पर विचार करूंगा। भारत की राजनीति का आधार पंचशील इस प्रकार है—

राजनीतिक पंचशील

क अखण्डता—एक देश दूसरे देश की सीमा का अतिक्रमण न करे। उस की स्वतन्त्रता पर आक्रमण न करे। इस प्रकार का दबाव न डाला जाए, जिस से उस की अखण्डता पर संकट उपस्थित हो।

ख. प्रभु-सत्ता—प्रत्येक राष्ट्र की अपनी प्रभु-सत्ता है। उसकी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा-बाहर से नहीं आनी चाहिए।

ग. अहस्तक्षेप—किसी देश के आन्तरिक या बाह्य सम्बन्धों में किस प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

घ. सह अस्तित्व—अपने से भिन्न सिद्धान्तों और मान्यताओं के कारण किसी देश का अस्तित्व समाप्त कर के उस पर अपने सिद्धान्त और व्यवस्था लादने का प्रयत्न न किया जाए। सब को साथ जीने का, सम्मानपूर्वक जीवित रहने का अधिकार है।

ङ. सहयोग—एक-दूसरे के विकास में सब सहयोग, सहकार

की भावना रखें। एक के विकास में सब का विकास है।

यह है राजनीतिक पंचशील सिद्धान्त, जिस की आज विश्व में व्यापक रूप में चर्चा हो रही है। 'शील' शब्द का अर्थ, यहां पर सिद्धान्त लिया गया है। पंचशील आज की विश्व राजनीति में एक नया मोड़ है–जिस का मूल धर्म भावना में है।

भारत के लिए पंचशील शब्द नया नहीं है। क्योंकि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व भी श्रमण संस्कृति में यह शब्द व्यवहृत हो चुका है। जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा के साहित्य में पंचशील शब्द आज भी अपना अस्तित्व रखता है, और व्यवहार में भी आता है।

बौद्ध पंच शील

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए पाँच आचारों का उपदेश दिया था, उन्हें पंचशील कहा गया है। शील का अर्थ, यहाँ पर आचार है, अनुशासन है। पंचशील इस प्रकार है—

क. अहिंसा–प्राणि मात्र के प्रति समभाव रखो। किसी पर द्वेष मत रखो। क्योंकि सब को जीवन प्रिय है।

ख. सत्य–सत्य जीवन का मूल आधार है। मिथ्या भाषण कभी मत करो। मिथ्या विचार का परित्याग करो।

ग. अस्तेय—दूसरे के आधिपत्य की वस्तु को ग्रहण न करो। जो अपना है, उस में सन्तोष रखो।

घ. ब्रह्मचर्य—मन से पवित्र रहो, तन से पवित्र रहो। विषय

वासना का परित्याग करो। ब्रह्मचर्य का पालन करो।

ङ. मद त्याग—किसी भी प्रकार का मद मत करो, नशा न करो। सुरा पान कभी हित कर नहीं।

उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन में केशी-गौतम चर्चा के प्रसंग पर 'पंच-शिक्षा' का उल्लेख मिलता है। पंचशील और पंच शिक्षा में अन्तर नहीं है, दोनों समान हैं, दोनों की एक ही भावना है। शील के समान शिक्षा का अर्थ भी यहां आचार है। श्रावक के १२ व्रतों में ४ शिक्षा व्रत कहे जाते है। पंचशिक्षाएं ये हैं—

जैन पंच शिक्षा

क. अहिंसा—जैसा जीवन तुझे प्रिय है, सब को भी उसी प्रकार। सब अपने जीवन से प्यार करते हैं। अतः किसी से द्वेष-घृणा मत करो।

ख. सत्य -जीवन का मूल केन्द्र है। सत्य साक्षात् भगवान् है। सत्य का अनादर आत्मा का अनादर है।

ग. अस्तेय—अपने श्रम से प्राप्त वस्तु पर ही तेरा अधिकार है। दूसरे की वस्तु के प्रति अपहरण की भावना मत रख।

घ. ब्रह्मचर्य—शक्ति संचय। वासना संयम। इसके बिना धर्म स्थिर नहीं होता। संयम का आधार यही है। यह ध्रुव धर्म है।

ङ अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक संचय पाप है। संग्रह

में परपीडन होता है। आसक्ति बढ़ती है। परिग्रह का त्याग करो।

वैदिक पंच यम

वैदिक धर्म का पंच यम, जैन पंच शिक्षा के सर्वथा समान है। भावना में भी और शब्द में भी। पंच यम का उल्लेख योग सूत्र में इस प्रकार है—"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः।" यम का अर्थ है, संयम, सदाचार, अनुशासन।

मैं आप से कह रहा था, कि भारत की राजनीति में आज जिस पंचशील की चर्चा की जा रही है. प्रचार हो रहा है। वह भारत के लिए नया नहीं है। भारत हजारों वर्षों से पंच शील का पालन करता चला आ रहा है। राजनीति के पंचशील सिद्धान्त का विकास बौद्ध पंचशील से, जैन पंच शिक्षा से और वैदिक पंचयम से भावना में बहुत कुछ मेल खा जाता है।

बौद्ध पंचशील और जैन पंच शिक्षा की मूल आत्मा सह अस्तित्व और सहयोग में है।

मानवतावादी समाज का कल्याण और उत्थान अणु से नहीं, सह अस्तित्व से होगा—यह एक ध्रुव सत्य है।

: ६ :

जीवन, एक कला

अनादि काल से मानव जीवन में कला का विशेष स्थान रहा है। कला की एक निश्चित परिभाषा—भले अभी तक न हो सकी हो—परन्तु जीवन को सुन्दर, मधुर और सरस बनाने की चेष्टा का जब से सूत्र-पात हुआ है, तब से कला भी जीवन के भव्य भवन में जाने अनजाने आ पहुँची है। कला का अर्थ-भोग-विलास के साधन करना-एक भ्रान्त धारणा ही नहीं, अपितु कला के यथार्थ परिबोध की नासमझी भी है। कला, जीवन शोधन की एक प्रक्रिया है। कला, जीवन-विकास का एक प्रयोग है। कला, जीवन यापन की एक पद्धति है, एक शैली है। भोग-विलास के उपकरणों व प्रसाधनों के अर्थ में कला, शब्द का

प्रयोग करना, यह कला की विकृति है, संस्कृति नहीं। अधिक स्पष्ट कहूँ, तो कहना होगा, कि यह कला शब्द की विसंगति है, संगति नहीं।

भारतीय संस्कृति के महामनीषी ऋषि भर्तृहरि ने कहा है-"जिस जीवन में साहित्य की उपासना नहीं, संगीत की साधना नहीं, कला की आराधना नहीं, वह जीवन मानव का नहीं, पशु का जीवन है—

"साहित्य संगीत कला विहीनः,
साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः।"

पशुत्व भाव से संरक्षण के लिए, जीवन में कला आवश्यक तत्व है।

श्रमण परम्परा में मानव जीवन के दो विभाग हैं-श्रावक और श्रमण। गृहस्थ और सन्त, भोगी और त्यागी। भोग से त्याग की ओर बढ़ना--दोनों के जीवन का ध्येय-बिन्दु है। जो एक साथ सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकता, वह श्रावक होता है, जो एक साथ समस्त बन्धनों को काट कर चल पड़ा, वह श्रमण होता है। परन्तु इन दो भूमिकाओं से पूर्व भी जीवन की दो भूमिकाएं और हैं--मार्गानुसारी और सम्यग्दृष्टि। जो अभी अन्धकार से मुड़कर प्रकाशोन्मुख बना है, परन्तु, अभी प्रकाश को पा नहीं सका, वह मार्गानुसारी-सन्मार्ग का अनुसरण करने वाला है। जिस ने प्रकाश पा लिया, सत्य का संदर्शन कर लिया, वह सम्यग्दृष्टि। सत्य के महा-पथ पर चल पड़ना। यह

श्रावकत्व और श्रमणत्व है। श्रमण संस्कृति की मान्यता के अनुसार जीवन की ये चार रेखाएं हैं। इन में से पहली रेखा तक, पहली भूमिका तक जीवन की कला प्राप्त नहीं होती। सम्यग्दृष्टि व सत्य दृष्टि ही जीवन शोधन की सच्ची कला है। यह कला जिस के पास हो, जीवन यात्रा में उसे किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता।

वैदिक परम्परा, में जीवन को चार विभागों में विभाजित किया है-ब्रह्मचर्य-साधनाकाल, गृहस्थ कर्तव्य काल, वानप्रस्थ, संन्यास की तैयारी, और संन्यास साधना काल। पहले विभाग में जीवन की सुदृढता, दूसरे में धन और जन का उपार्जन व उपभोग, तीसरे में त्याग की तैयारी और चौथे विभाग में त्याग की साधना की जाती है।

भारतीय विचार धारा में मानव जीवन को "सत्यं, शिवं, सुन्दरं" कहा गया है। दर्शन सत्य है, धर्म शिव है, मंगल है, और कला सुन्दर है। दर्शन विचार है, और कला आचार है, सम्यक्त्व उन दोनों में शिवत्व का अधिष्ठान करता है। फलितार्थ निकला-सम्यगनिष्ठा, सम्यगविचार और सम्यग् आचार-इन तीनों का समग्रत्व ही वस्तुत: जीवन कला है। जिस के जीवन में निष्ठा हो, विवेक हो और कृति हो, तो समझना चाहिए, कि यह कलावान् है। आत्मा में सत्, चित्, और आनन्द-ये तीन गुण हैं। इन तीनों की समष्टि को 'आत्मा' पद से कहा गया है। सत् का अर्थ सत्य, शिव का अर्थ विवेक व

विचार और सुन्दर का अर्थ आनन्द। अर्थात् 'सत्य' शिव और सुन्दर, की समष्टि को ही जीवन-कला कहा जाता है।

जहाँ तक मैं समझता हूं, जीवन का चरम ध्येय आनन्द है। यदि मानव जीवन में से आनन्द-तत्व को निकाल दिया जाए, तो फिर मैं पूछता हूँ, कि जीवन का अर्थ ही क्या शेष बचा रहेगा ? और यदि जीवन में आनन्द नामक कोई तत्व है, तो फिर कला की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि कला का उद्देश्य जीवन को आनन्द मय बनाना है। कुछ विचारक कहते हैं—"कला का अर्थ है, कला! यानी कला, केवल कला के लिए है। जीवन से उसकी कोई संगति नहीं।" मैं समझता हूँ, यह एक बड़ी भ्रान्ति है। यह नारा भारत का नहीं, विदेश का है,—जहाँ भोग ही जीवन की अन्तिम परिणति है। और चूंकि भारत में जीवन की चरम परिणति है-योग।" अतः यहां कला, केवल कला के लिए ही नहीं, मनोरंजन के लिए ही नहीं, अपितु जीवन के लिए है, भोग से योग में जाने के लिए है। भारतीय विश्वास के अनुरूप कला की निष्पत्ति जीवन के लिए हुई है। अतः कहना होगा, कि "कला जीवन के लिए है।" देश, काल और परिस्थितिवश कला में विभेद हो सकते हैं, परन्तु कला कभी व्यर्थ नहीं हो सकती है।

सौन्दर्य की ओर ढलना, मानव मन का सहज स्वभाव रहा है। मानव मानस में स्थित सौन्दर्य, केवल मानव के अपने जीवन तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु अपने आराध्य

भगवान को भी वह सुन्दर वेष में सुन्दर भूषा में और सुन्दर रूप में देखने की कल्पना करता है। वीतराग को भी भक्त कवि अनुपम, अद्भुत और चरम सुन्दर देखना चाहता है-

"यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां;
यत्ते समानमपरं नहि रूप मस्ति ॥"

मैं समझता हूँ, इससे अधिक सौन्दर्य की उपासना अन्यत्र दुर्लभ है। भक्त अपने भगवान को विश्व में सर्वाधिक चिर सुन्दर देखना चाहता है। तभी तो वह कहता है, कि जिस शांतराग परमाणु पुंज से आपके शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु विश्व में उतने ही थे। क्यों कि इस विराट विश्व में आपसे अधिक रूप किसी में नहीं है, आपसे अधिक सौन्दर्य किसी में नहीं है। सौन्दर्य के उपकरण ही नहीं रहे, तो सौन्दर्य कहां रहेगा ?

भले ही हम इस भक्त कवि की सौन्दर्य भावना को भक्ति का अतिरेक कह कर टाल दें। परन्तु, सत्य यह है, कि सौन्दर्य की ओर झुकना मानव का सहज धर्म है। सौन्दर्योन्मुख प्रवृत्ति ही तो कला कही जाती है। अन्तर इतना ही है, कि भौतिक वादी बाहर के सौन्दर्य को देखता है, और अध्यात्म वादी आत्मा के सौन्दर्य को देखता है। भारत के महान चिंतकों ने जीवन की सफलता में—भूलकर भी विलास की

गणना नहीं की। जीवन में सौन्दर्य को भी माना, कला को भी माना। परन्तु सौन्दर्य और कला में संयम की संयोजना को वे कभी नहीं भूले। सौन्दर्य की उपासना की, पर संयम के साथ। कला की आराधना की, पर संयम के साथ, आनन्द की कामना की, पर वह भी संयम के साथ। भारत के अध्यात्मवादी कलाकारों ने अन्तर्जगत के सौन्दर्य का मन-भर कर वर्णन किया है। गीता का विराट रूप दर्शन इस कल्पना का प्रमाण है।

राजा जनक की राज सभा में, अष्टावक्र ऋषि ज्यों ही पहुंचे, कि उन्हें देखकर समस्त विद्वान् हंसने लगे—ऋषि का रूप ही ऐसा था। पर साथ में तपस्वी अष्टावक्र भी हंसने लगे। विद्वानों ने पूछा—आप क्यों हंसे ?" अष्टावक्र ने मुस्कान भर कर कहा—"मैं अपनी भूल पर हंसा हूँ।" मैं समझता था, कि राजा जनक अध्यात्मवादी हैं, उनके विद्वान् सभासद् भी अध्यात्मवादी होंगे। परन्तु, मैंने यहां आकर देखा—"यह सभा तो चर्मकारों की सभा है।"यहाँ चमड़े का रंग-रूप देखा जाता है, –आत्मा का सौन्दर्य नहीं।

मुनि की वाणी में भोगवादी संस्कृति पर एक करारा व्यंग है। साथ ही भारत की अध्यात्म भावना में अटूट निष्ठा भी। जीवन में सौन्दर्य भी है, परन्तु उसका उपयोग योग में करो, नकि भोग में। भोग कला में नहीं, योग कला में भारत का विश्वास सदा से रहा है। कला-कला में भी बड़ा अन्तर होता

है। एक प्राचीन अध्यात्मवादी कवि की वाणी में—

"कला बहत्तर पुरुष की, वा में दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥"

७२ कलाओं में दो कलाएं प्रधान हैं—भोग कला और योग कला। भोग की एक सीमा है, उसके बाद योग की सीमा-रेखा आती है। भोग से योग की ओर जाना, आगार से अणगार बनना, यह भारत की मूल संस्कृति है। इसमें योग कला का बड़ा महत्व है, जिसको कवि ने "जीव उद्धार" कहा है। स्पष्ट भाषा में उसे धर्म कला कहते हैं—"सव्वा कला धम्मकला जिणेइ। "धर्म कला सब से ऊंची कला है।" धर्म कला, यही वस्तुः सच्ची जीवन-कला है।

———

:७:

जीवन, एक सरिता

कवि की अलंकृत भाषा में—"जीवन एक सरिता है।" सरिता की मधुर धारा सदा प्रवाह शील रहती है। प्रवाह रुकते ही उस की मिठास जाती रहती है। उसका अस्तित्व ही मिट जाता है। अपने उद्गम स्थल से लेकर महासागर तक नित्य-निरन्तर बहते ही रहना, सरिता का सहज स्वभाव है। उस से पूछो, कि तू सदा काल बहती ही क्यों रहती है? वह सहज स्वर में कहेगी-क्योंकि यह मेरा सहज धर्म है। मेरा प्रवाह रुका कि मैं मरी। जीवन संधारण के लिए बहते रहना ही श्रेयस्कर है। देखते नहीं हो, मानव! मेरे कूल के आस-पास ये जो छोटे-बड़े ताल-तलैया हैं, उनके जीवन की क्या दशा है! उनका निर्मल,

स्वच्छन्द और मधुर जल अपने आप में बन्द होकर सड़ने लगता है। गति न होने से, क्रिया न रहने से उनका जीवन समाप्त हो गया है। "आगे बढ़ो या मिट्टी में मिलो।" यह प्रकृति का एक अटल और अमिट सिद्धान्त है। गतिशील जीवन का मूल मन्त्र है।

जो बात मैं अभी सरिता के सम्बन्ध में कह रहा था, मानव जीवन के सम्बन्ध में भी वह सिद्धान्त सत्य है। कवि की वाणी में जीवन एक सरिता है। जीवन को गतिशील रखना, क्रियाशील रखना, विकास का एक महान् तथ्य-पूर्ण सिद्धान्त है। जीवन के विकास के लिए आवश्यक सिद्धान्त यह है, कि उस को रुकना नहीं चाहिए। जन्म से लेकर मृत्यु सीमा तक जीवन निरन्तर बहता ही रहता है। रुकने का अर्थ है, मृत्यु।

बहुत-से लोग कहा करते हैं,—निद्रा-दशा में जीवन गति कहां करता है? परन्तु, यह धारणा भ्रम पूर्ण है। विचार कीजिए, क्या देह की हल-चल को ही आप जीवन मानते हैं? यदि यही बात आप को स्वीकृत हो, तो कहना होगा—आप ने जैन दर्शन के जीव-विज्ञान को समझा ही नहीं? जैन धर्म कहता है, यह तो स्थूल जीवन है। सूक्ष्म जीवन है, संकल्प का, जिसे अन्तर्जीवन कहते हैं। जीव भले निद्रा दशा में हो, या मूर्च्छा अवस्था में उसका संकल्प मय जीवन सदा क्रियाशील रहता है। असंज्ञी प्राणी में भी अध्यवसाय तो माना ही गया है। यदि इस से इन्कार होगा, तो फिर पाप, पुण्य और धर्म की व्यवस्था से भी

आप को इन्कार करना होगा। प्राणी बाहर में चाहे चेष्टा रहित दीख रहा हो, किन्तु उस के अन्तर में सदा संकल्प और अध्यवसायों की एक विराट हल-चल रहती है। आपने सुना ही होगा, कि तन्दुल मच्छ महा मच्छ की आँख के कोर पर बैठा बैठा ही अध्यवसाय के ताने-बाने से सातवीं नरक का बन्ध बाँध लेता है। बाहर में भले ही उसको क्रिया न हो, गति न हो ? पर अन्तर में उस के एक महान् द्वन्द्व चलता रहता है। वह प्राणी के अन्तर जीवन की गति है, क्रिया है। प्रसुप्त दशा में मूर्च्छा की हालत में भी प्राणी अन्तर क्रिया करता ही रहता है। कभी स्थूल जीवन के चेष्टा रहित होने पर भी सूक्ष्म जीवन-जिसे मनोविज्ञान की भाषा में संकल्प और अध्यवसाय कहते हैं—सदा प्रवाहित ही रहता है। अन्तर जीवन की हल-चल कभी बन्द नहीं होती ?

इस विषय पर आध्यात्मिक दृष्टि से भी विचार करें, तो यही तथ्य निकलता है, कि 'जीवन सदा गतिशील और क्रियाशील ही रहता है। जैन शास्त्र में इस बात का पर्याप्त वर्णन आता है, कि "आत्मा में गति और क्रिया होती है।" गति व क्रिया आत्मा का धर्म है। संसारी जीवों में ही नहीं, सिद्धों में भी स्व-रमण रूप क्रिया रहती ही है। क्योंकि क्रिया और गति आत्मा का धर्म है! वह उस से अलग नहीं हो सकता। इस दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है, कि जीवन सदा क्रियाशील है, गतिशील है। क्रिया शील रहना ही जीवन का सहज धर्म है।

हाँ, तो कवि की वाणी में जीवन एक सतत प्रवाह शील सरिता के समान है।

मैं आप से कह रहा था, कि जीवन एक हल-चल है, जीवन एक आन्दोलन है, जीवन एक यात्रा है। यात्री यदि चले नहीं बैठा रहे तो क्या वह अपने लक्ष्य पर पहुंच सकेगा ! नहीं, कदापि नहीं। जगत् का अर्थ ही है—नित्य-निरन्तर आगे बढ़ने वाला। पेड़ जब तक प्रकृति से संयुक्त होकर बढ़ता है, तब तक प्रकृति का एक-एक कण उसका पोषण करता है। जब उस का विकास रुक जाता है, तो वही प्रकृति धीरे-धीरे उसे नष्ट भ्रष्ट कर देती है। मानव जीवन का भी यही हाल है। जब तक मनुष्य में गति करने की क्षमता रहती है, तब तक उसकी स्वाभाविक शक्ति के साथ प्रकृति की समस्त शक्तियां भी उस के विकास में सहयोग देती हैं। जब तक उपादान में शक्ति है, तब तक निमित्त भी उसे बल-शक्ति देते हैं। मनुष्य का कल्याण इसी में है, कि वह लोक जीवन के साथ अपनी अन्तःशक्ति का संयोग स्थापित करता रहे, इसी को जीवन जीना कहते हैं। महाकवि प्रसाद की भाषा में कहना होगा—

"इस जीवन का उद्देश्य नहीं है,
शान्ति भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक,
जिस के आगे राह नहीं है॥"

मैं अभी आप से कह रहा था, कि चलते रहना, मनुष्य का

मुख्य धर्म क्यों है ? जीवन कोई पड़ाव नहीं, बल्कि एक यात्रा है। मनुष्य जीवन की परिभाषा करते हुए कवि कहता है—

"समझे अगर इन्सान तो,
दिन-रात सफर है।"

अर्थात् जीवन एक यात्रा है, मनुष्य एक यात्री है। लोक मार्ग में वह स्वेच्छा से खड़ा नहीं रह सकता ? उसे या तो आगे बढ़ना चाहिए या मर मिटना होगा। क्योंकि जीवन एक संघर्ष है। संघर्ष करने वाला ही यहां पर जीवित रह सकता है। गतिशील होना ही वस्तुतः जीवन का लक्षण है। उपनिषद् का एक ऋषि कहता है—"शरवत्तन्मयो भवेत्" धनुष से छूटा बाण सीधे लक्ष्य में जाकर टिकता है। मनुष्य को भी अपने लक्ष्य पर पहुँच कर ही विश्राम करना चाहिए। वीर पुरुष वह है, जो कभी पथ-बाधाओं से व्याकुल नहीं बनता। वह अपने जीवन की यात्रा में मस्ती के साथ गाता है—

"पन्थ होने दो अपरिचित,
प्राण रहने दो अकेला।
और होंगे चरण हारे,
अन्य हैं जो लौटते,
दे, शूल को संकल्प सारे॥"

सच्चा यात्री आगे बढ़ता है। उसके मार्ग में चाहे फूल बिछे हों, या शूल गड़े हों। वह अपने संकल्प का कभी परि-

त्याग नहीं कर सकता। पथ-संकटों को देख कर वापिस लौटना, वीरत्व नहीं।

महावीर आगे बढ़े, तो बढ़ते ही रहे। अनेक अनुकूल और प्रतिकूल संकट, उपसर्ग और परीषह आए, पर महावीर कभी विचलित नहीं हुए। भक्त की भक्ति लुभा नहीं सकी, और विरोधी का विरोध उन्हें रोक नहीं सका। इन्द्र आया, तो हर्ष नहीं, संगम आया, तो रोष नहीं। बढ़ते रहना उनके जीवन का संलक्ष्य था। संयम की साधना रुकी नहीं। भक्तों की भक्ति की मधुर स्वर लहरी उस मस्त योगी को मोह नहीं सकी, और विरोध के रोध को वह देख नहीं सका। भुक्ति का त्यागी मुक्ति की खोज में चला, तो चलता ही रहा। वर्धमान की दृष्टि में फूल और शूल दोनों समान थे।

धन्ना का जीवन तो आप ने सुना ही होगा। वह अपने जीवन में जितना बड़ा भोगी था, उस से भी महान् था, वह एक महायोगी। अपनी पत्नी सुभद्रा की बोली की गोली लगते ही वह सिंहराज जागृत हो गया। दिशा बदल ली, तो फिर कभी लौटकर भी नहीं देखा। नित्य-निरन्तर साधना के महा-मार्ग पर बढ़ता ही गया।

महापुरुषों के जीवन से हमें यही प्रेरणा मिलती है, उत्साह और स्फूर्ति मिलती है। जीवन संग्राम में विराम की आशा स्वप्नवत् है। जीवन संघर्ष में सफल होने के लिए सातत्य यात्रा की आवश्यकता है। जीवन को सदा गतिशील रखो, चाहे

एक कदम भर चलो। पर चलते ही रहो। यही सिद्धान्त है, लक्ष्य को प्राप्त करने का। जग जीता बढ़ने वालों ने। यह जगत् का एक अमर सिद्धान्त है। मैं आप से कह रहा था, कि जीवन एक सरिता है। उसका सौन्दर्य, उसका माधुर्य सदा गति शील और क्रियाशील बने रहने में ही है।

:८:

जीवन के राजा बनो, भिखारी नहीं

भारत के समस्त धर्मों का सार है--तप और जप। जिस जीवन में तप नहीं, जप नहीं, वह जीवन क्या? तप से जीवन पवित्र होता है और जप से जीवन बलवान बनता है। तन से तप करो, और मन से जप करो। तप और जप से जीवन पूर्ण होता है। वस्त्र मलिन होता है, तो उसे स्वच्छ और साफ करने लिए दो चीजें जरूरी हैं--जल और साबुन। अकेला जल भी कपड़े को साफ नहीं कर पाता, और अकेला साबुन भी व्यर्थ होता है। दोनों के संयोग से ही वस्त्र की संशुद्धि सम्भव रहती है। वस्त्र दोनों से शुद्ध होता है।

आत्मा अनन्त काल से माया, वासना और कर्म के संयोग

से मलिन हो गया है। अपवित्र और अशुद्ध हो गया है। उसे पवित्र और शुद्ध करना – मनुष्य का परम कर्तव्य है। आत्मा की संशुद्धि का अमर आधार है--तप और जप। तप जल है, जप साबुन। तप और जप के संयोग से आत्मा पवित्र और निर्मल होता है। तप का अर्थ है, अपने आप को तपाना, और जप का अर्थ है, अपने आपको पहचानना। पहले तपो, फिर अपने स्वरूप को प्राप्त करो। भगवान महावीर पहले तपे थे, बाद में उन्होंने अपने स्वरूप को पा लिया। भक्त से भगवान यों बना जाता है।

मनुष्य महान् है, क्योंकि वह अपने तन का स्वामी है, मन का स्वामी है, अपनी आत्मा का राजा है। जो अपने जीवन में इन्द्रियों का दास बनकर रहता है, मन का गुलाम बनकर जीता है, और तन की आवश्यकताओं में ही उलझा रहता है, वह क्या तो तप करेगा, और क्या जप करेगा ? क्या आत्मा को पहचानेगा ? इन्सान जब तक अपनी जिन्दगी का बादशाह नहीं बनता, भिखारी बना फिरता है, तब तक उत्थान की आशा रखना निरर्थक है। अपने जीवन के रंक क्या खाक साधना करेंगे ?

एक भिखारी भाग्य-योग्य से राजा बन गया। सोने के सिंहासन पर बैठ गया। तन को सुन्दर वस्त्र और कीमती आभूषणों से अलंकृत कर लिया। सोने के थाल में भोजन करता, सोने के पात्र में जल पीता। हजारों हजार सेवक सेवा

में हाजिर रहते। चलता, तो छत्र और चमर होते। रहने को भव्य भवन। जीवन में अब क्या कमी थी? चारों ओर से जय जयकार थे। किन्तु यह क्या? मन्त्री आता, तो डरता है। सेनापति आता है तो, कांपता है। नगर के सेठ-साहूकार आते तो सक-पका जाता है, जिन सेठ-साहूकारों के द्वार पर कभी वह भिक्षा पात्र हाथ में लेकर द्वार-द्वार भटकता फिरता था-आज वे उसके सामने हाथ जोड़कर खड़े थे, पर फिर भी वह भय-भीत था। कारण क्या था? वह तन का राजा जरूर था, परन्तु मन का भिखारी ही था। उसका मन अभी राजा नहीं बन पाया था। सत्ता के उच्च सिंहासन पर आरूढ़ होकर भी वह अपने आपको अभी तक भिखारी ही समझता था। तन से राजा होकर भी वह मन से भिखारी ही था।

मैं कह रहा था, कि समाज में इस प्रकार के भिखारी राजाओं की कमी नहीं है। हजारों मनुष्य अपने तन के गुलाम हैं, मन के दास हैं, सम्पत्ति, सत्ता और ख्याति के दास हैं। घर में अपार धन राशि है। परन्तु केवल तिजोरियों में बन्द करके धूप दीप देने को। जीवन में वे धन के दास बनकर रहे, स्वामी नहीं बन सके। धन मिला तो क्या हुआ? न स्वयं ही भोगा और न समाज या राष्ट्र के कल्याण के लिए ही दे सके।

शक्ति मिली, सत्ता मिली? पर हुआ क्या? अपने स्वार्थ का पोषण किया। अपने को सुखी बनाने के प्रयत्न में रहे।

स्वर्ग बनाया। यह एक सफल जीवन की व्याख्या है, सफल जीवन की परिभाषा है। और यदि मृत्यु के क्षणोंमें हम लोग रोएं और संसार हंसे, तो यह हमारे जीवन की करारी हार है' एक बहुत बड़ी असफलता है।

जलती आग में लकड़ी को डालो और सोने को भी। फिर देखो, क्या होता है ? लकड़ी का मुंह काला होगा और सोने की चमक-दमक बढ़ेगी—यदि वास्तव में वह सोना है, तो। जीवन में पहले तपो और फिर दमको- यह अमर सिद्धान्त है। जीवन. सफलता का रहस्य यहीं पर है। दूसरों को सुखी करने वाला क्या कभी दुःखी रह सकता है ? कदापि नहीं। भारत का एक महान् दार्शनिक कहता है—"हरिरेव जगद् जगदेवहरिः।" अपनी आत्मा को जगत् में देखने वाला, और सम्पूर्ण जगत को आत्मा में देखने वाला—कभी अपने जीवन में संक्लेश नहीं पा सकता। क्योंकि वह निरन्तर तप और जप से अपने जीवन को शुद्ध निर्मल और पवित्र बनाता रहता है। जीवन की पवित्रता, जीवन की विमलता और जीवन की विशुद्धता ही- जीवन की सर्वतोमुखी महान् सफलता मानी जाती है।

पाली, मारवाड़ २०-१-५२

:६:

दिशा के बदलने से दशा बदलती है

एक सन्त से किसी जिज्ञासु सज्जन ने कहा—"महाराज, मेरी दशा कैसे सुधरे ? घर में धन से और जन से सर्व प्रकार का आनन्द है। प्रभु कृपा से किसी वस्तु की कमी नहीं। फिर भी न जाने क्यों ? जीवन में शान्ति एवं सुख के मधुर क्षणों का आनन्द नहीं मिलता। चित्त सदा भटका करता है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" इस योग सूत्र के अनुसार अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करने का प्रयत्न करता हूँ, परन्तु सफलता का पुण्य दर्शन नहीं हो पाता ?

सन्त ने भक्त की करुण-कथा सुनकर कहा—"तुम अब तक क्या साधना करते रहे हो !" भक्त ने आशा और उल्लास के

स्वर में कहा—"साधना एक क्या, अनेक की हैं। कभी योग की, कभी वेदान्त की, कभी भक्ति की। किन्तु शान्ति और आनन्द किसी में नहीं मिला। चित्त की दशा जरा भी बदली नहीं। सन्त ने गम्भीर होकर कहा—"महासागर की तूफानी तरल तरंगों पर नाचने वाली नौका के समान जिनका जीवन चंचल है, उन के भाग्य में शान्ति और आनन्द कहां? हर्ष और उल्लास कहां? वत्स, यदि जीवन में शान्ति और आनन्द के मधुर क्षणों की कामना हो, तो पहले अपने जीवन की दिशा को बदलो, दशा बदलते विलम्ब नहीं लगेगा! जीवन नौका को स्थिर करो। अपना एक ध्येय, एक लक्ष्य स्थिर करो। बिना ध्येय के कभी इधर और उधर भटकने से क्या कभी दशा सुधर सकती है?

मैं समझता हूँ, सन्त का समाधान सत्य के अति निकट है। जीवन की दिशा बदलने से दशा भी बदल जाती है। मूल बात है, दिशा बदलने की। पहले विचार करो, क्या बनना चाहते हो? राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, या रावण, कंस, गोशालक, देवदत्त? कवि के शब्दों में—

"जो विचारो, सो बना लो,
देव भी शैतान भी।"

मनुष्य देव भी बन सकता है, और दैत्य भी? योग वासिष्ठ में कहा गया है—"मानसं विद्धि मानवम्।" मनुष्य मनोमय है, संकल्पमय है। जैसा भी सोचेगा, बनता जाएगा। आवश्य-

कता इस बात की है, पहले वह अपना ध्येय स्थिर कर ले, फिर स्वीकृत पथ पर मजबूत कदमों से निरन्तर बढ़ता रहे। ध्येय की स्थिरता से मनुष्य की बिखरी शक्तियां एकत्रित हो जाती हैं। उस की शक्ति का सन्तुलन हो जाता है। गांधी एक दिन संसार का सर्वसाधारण मानव ही था। परन्तु उस ने अपनी संकल्प शक्ति के बहुमुखी स्रोत को एक दिशा दी, एक मार्ग दिया। लम्बी साधना करता रहा। अपने विश्वास और उत्साह को मरने नहीं दिया। आज का संसार गांधी को मानव ही नहीं, महामानव तक भी कहता है। अपनी दशा, अपनी स्थिति स्वयं मनुष्य के अपने हाथ में रहती है, चाहे जैसी बना सकता है।

कोई सज्जन अपने घर से निकलता हो, कहीं जाने के लिए। मार्ग में मित्र मिला। पूछा—कहां चले जा रहे हो? उत्तर मिला—कहीं नहीं, यों ही चलता आ रहा हूँ। आप इस व्यक्ति को पागल के सिवा और क्या कहेंगे? परन्तु वास्तविकता तो यह है, कि संसार इस प्रकार के पागलों से भरा पड़ा है। जिन्दगी के हर मोर्चे पर आप को इस प्रकार के पागलों की एक बड़ी फौज मिलेगी। जीवन के क्षेत्र में चलते चले जा रहे हैं। न दिशा का पता है, न लक्ष्य का ज्ञान है, न ध्येय का भान है। मैं पूछता हूँ आप से? ऐसे लोगों की दशा कैसे सुधरेगी! शान्ति और आनन्द के सघन मेघों की जीवन-क्षेत्र में वर्षा कैसे होगी?

सामायिक कर रहे हैं, पर पता नहीं सामायिक के अर्थ

का ? पौषध कर रहे हैं, पर ज्ञान नहीं पौषध का। जप-तप करते हैं, पर बोध नहीं जप-तप करने की विधि का। श्रावक कहलाते हैं, पर भान नहीं है श्रावक के क्या कर्तव्य हैं ? साधु बन गए हैं,, पर साधुत्व का परिबोध नहीं है। धर्म क्रिया करते हैं, पर इसलिए कि यह हमारी कुल परम्परा है। क्षेत्र में सन्त पधारे हैं। दर्शन करने और प्रवचन सुनने जाना ही पड़ेगा—भले मन में उत्साह और तरंग न हो-क्योंकि इस धर्म क्रिया को हमारे पुरखे इसी रूप में करते चले आ रहे हैं। धर्म भी एक कुल परम्परा ही बन गया है। साधु को दान देना है। आहार का, पानी का, वस्त्र का और पात्र का। साधु घर पर आया हो, तो कुछ न कुछ देना ही पड़ेगा—भले वह देय वस्तु साधु के स्वास्थ्य के अनुकूल न हो पर साधु का पात्र घर से खाली न लौटे। साधु को आवश्यकता हो या नहीं हो, इस बात को साधु जाने। पर पात्र में डालना धर्म है।

बहिनों में तो इस दिशा में और अधिक अज्ञान-अंधेरा है। तप हो, जप हो, धर्म हो, क्रिया काण्ड हो। वे करती ही रहती हैं। उस क्रिया के पीछे क्या भावना है ? क्या विचार है ? क्या रहस्य है ? इस विवेक जागृति से उन का कोई लगाव नहीं रहता। पर्युषण पर्व आया, कि उन में तप करने की भावना बलवती हो जाती है। बेला, तेला, चौला, पचोला, और अठाई तक दौड़ लगाती हैं। काना-फूंसी आरम्भ हो जाती है। मेरी सास, ननद और सहेलियां अठाई तक जा पहुँची हैं। मैंने

अभी तक कुछ भी नहीं किया। वे क्या समझेंगी, मुझे। अब मैं भी अठाई करूं। सासरे और पीहर में एक हल-चल पैदा होगी। पीहर से सुन्दर वस्त्र, चमकीले आभूषण और सहेलियों के मधुर गीत-इस तप के बिना नहीं मिल सकते। मैं न करूंगी तो सहेली क्या कहेंगी? भले गिर पड़ कर ही रात-दिन काटने पड़ें, पर इस वर्ष अठाई अवश्य करनी पड़ेगी। गाजे बाजे के साथ जाकर व्याख्यान के बीच में गुरु महाराज से पचखूंगी? सास-सुसर का आशीष और लोगों की 'धन्य-धन्य' की झड़ी। कितना आनन्द है?

मैं समझता हूँ, इस प्रकार के तप में, जप में, धर्म-साधना में देह-दमन भले ही हो, आत्म-दमन नहीं है, मनोमन्थन नहीं है, विवेक नहीं है, जीवन की एक सही दिशा नहीं है। जीवन का लक्ष्य स्थिर नहीं है। जीवन का ध्येय नहीं बना है। भेड़िया चाल में एक परम्परा हो सकती है, पर धर्म नहीं। धर्म की साधना के लिए स्थिरता की विशेष आवश्यकता है। मन को स्थिर करो। बुद्धि को स्थिर करो। आत्मा को स्थिर करो। जब जीवन में इस का निश्चय ही नहीं, कि करना क्या है? तब मन स्थिर कैसे हो? तरल लहरों की ताल पर नाचने वाली नौका के समान जो व्यक्ति इस संसार सागर में बहे चले जाते हैं, उन का जीवन भी क्या जीवन है? गंगा गए गंगा-दास और यमुना गए यमुना दास। जीवन की यह स्थिति खतरनाक है। उपाध्याय यशोविजय जी अपने अध्यात्म ग्रन्थ ज्ञान-सार में कहते हैं—

,,वत्स, किंचञ्चलस्वान्तो,
भ्रान्त्वा भ्रान्त्व विपीदसि।
निधिं स्वसन्निधावेव,
स्थिरता दर्शयिष्यति ॥"

साधक! सुख, शान्ति और आनन्द की खोज में चंचल बना क्यों इधर उधर भटक रहा है? खिन्न और उदास क्यों बना है? शान्ति, सुख, और आनन्द को अक्षय निधि तेरे पास ही तो है, पगले। क्यों व्यर्थ में भटक रहा है? हीरे की खान तेरे पास ही है—

"पास हीरे हीरे की खान,
खोजता कहां फिरे नादान।"

हाँ, अपने आप को स्थिर कर। चित्त को शांत रख। "स्थिरो भव, "वह स्थिरता ही तुझे अक्षय आनन्द दे सकेगी। अपने पास अक्षय भण्डार होने पर भी तू क्यों खेद खिन्न होता है?

प्रसन्न चन्द्र मुनि का वर्णन आप ने सुना होगा। कितना तपस्वी था? कितना त्यागी था? और कैसा था, ध्यानी तथा मौनी? उसकी ध्यान मुद्रा को देखकर राजा श्रेणिक भी कितना प्रभावित हुआ था? मन को साधे बिना ऐसा ध्यान नहीं किया जा सकता? यह उसे विश्वास हो गया था। अपने वाहन से उतर कर मुनि के चरणों में सभक्ति वन्दना करता है। फिर भगवान् महावीर के चरणों में आकर पूछा, तो स्थिति भिन्न थी। वह

मुनि देह में स्थिर अवश्य था, किन्तु अन्तर में भटक रहा था। मुनि ने अपने जीवन कल्याण के लिए जिस दिशा का निश्चय किया था, उससे भटक कर वह बहुत दूर चला गया था। बिल्कुल उल्टी दिशा में ही। उत्थान पतन की ओर चल पड़ा था। फिर शान्ति और आनन्द कहां था? कथाकार कह कहता है—ज्यों ही मुनि अन्तर में जागा, कि अपनी दिशा बदल ली। फिर सही दिशा पर लौट आया। दिशा बदली, कि दशा भी बदल गई। नारकी होते-होते बचा, इतना ही नहीं, बल्कि अमरत्व के पथ पर लग गया। अजर, अमर और शाश्वत सुख को अधिगत कर लिया।

भगवान् महावीर ने कहा—साधक! तू पहले अपने आप आप में स्थिर हो जा। अपना एक ध्येय बनाले। एक लक्ष्य चुनले। अपनी एक दिशा पकड़ले। फिर सुदृढ़ संकल्प से उस ओर बढ़ा चल। इस जीवन-सूत्र को याद रख—"लक्ष्य स्थिर किए बिना, कभी यात्रा मत कर। पहले सोच, समझ और फिर चल—चलता ही चल। जीवन में चलने का बड़ा महत्व है, परन्तु किधर चलना है, और कैसे चलना है। इसका भी तो जरा निश्चय करलो।

असत्य से हट, और सत्य की ओर चल। सत्य जीवन का परम सिद्धान्त है। पर गति है। सत्य स्वर्ग का सोपान है, और मुक्ति का परम साधन। सत्य जीवन का सही और सीधा रास्ता है। सत्य का मार्ग ही सन्मार्ग है। सत्य जीवन की सही

दिशा है, वे खटके बढ़ा चल। सत्य के प्रकाश में किसी प्रकार का भय नहीं है। सत्य का उपासक कभी जीवन में गलत दिशा में नहीं जाता। क्योंकि सत्य का प्रकाश उसके साथ रहता है।

अज्ञान के अन्धकार से निकल, और ज्ञान के प्रकाश की ओर प्रगति कर। ऋषि की वाणी में "आरोह तमसो ज्योतिः।" अन्धकार से निकल प्रकाश की ओर बढ़ा चल। ज्ञान का मार्ग प्रकाश का मार्ग है। जीवन के जागरण का मार्ग है।

दुराचार से दूर हो, सदाचार की ओर अग्रसर होता जा। संयम, सदाचार और मर्यादा के विना जीवन अंक शून्य विन्दु के सिवा और कुछ भी नहीं है। स्वतंत्र होना ठीक है, पर स्वच्छन्द मत बन। जो मर्यादा का पालन करता है, वस्तुतः वह मनुष्य है। पशु जीवन में एक भी मर्यादा नहीं होती। परन्तु मनुष्य जीवन मर्यादा रहित नहीं रह सकता। संयम, सदाचार, अनुशासन और मर्यादा की ओर बढ़ना, वास्तव में मनुष्यता की ओर बढ़ना है। जीवन क. सही दिशा की ओर चलना है। अपने लक्ष्य और ध्येय की ओर चलना है।

जैन धर्म की अपनी भाषा में हम कह सकते हैं, कि मिथ्यात्व से हटकर सम्यक्त्व की ओर बढ़ना, अज्ञान से सम्यग्ज्ञान की ओर बढ़ना, और मिथ्या चारित्र से सम्यक् चारित्र की ओर बढ़ना वस्तुतः प्रगति की ओर बढ़ना है। अपने स्थिर लक्ष्य की ओर बढ़ना है। सुख, शांति और आनन्द का यही मार्ग है। दशा सुधारने का यही मार्ग है। अपनी दिशा बदलो, दशा अवश्य बदलेगी।

:१०:

भक्त से भगवान्

अभी-अभी मेरे से पूर्व प्रवक्ता आपके सामने भक्त और भगवान का वर्णन कर रहे थे। भारत का दर्शन और भारत की धर्म परम्परा भक्त और भगवान के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहते सुनते हैं। भक्त के जीवन का लक्ष्य क्या है? ऊपर से नीचे आना या नीचे से ऊपर की ओर जाना? दोनों दृष्टिकोणों में बड़ा अन्तर है।

एक भक्त भक्ति में मस्त है। उसके चारों ओर अन्धकार फैला है। द्वेष की चिनगारियाँ उछल रही हैं। हिंसा का झंझावात चल रहा है। घृणा और नफरत के दावानल से वह दग्ध बना रहता है। भक्त भगवान से प्रार्थना करता है, प्रभु से विनय

विनम्र स्वर में कहता है।

"तमसो मा ज्योतिर्गमय,
असतो मा सद्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय।"

भक्त कहता है—"भगवन् मुझे अज्ञान के अन्धकार में परिभ्रमण करते-करते अनन्त काल हो गया, अब मुझे प्रकाश का मार्ग बतलाओ। मुझे असत्य के विनाशक मार्ग से हटाकर सत्य के प्रकाश मय मार्ग में स्थिर करो। मुझे मृत्यु से अमरता की ओर जाने का मार्ग बताइए। क्योंकि जन्म और मरण अनन्तकाल से होता चला आ रहा है। प्रभो! मुझे जीवन-कल्याण का सही मार्ग बताइए।

मैं अभी आप से भक्त और भगवान के सम्बन्ध की चर्चा कर रहा था। जैन धर्म और जैन दर्शन द्वैत-मार्ग को पसन्द नहीं करता। वह द्वैतता के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म यह नहीं मानता, कि भक्त भक्त ही रहेगा, वह अनन्त काल तक संसार में भटकता ही रहेगा। वह सदा दास ही बना रहेगा, कभी स्वामी नहीं बन सकेगा? इस प्रकार की दास्य भक्ति में जैन धर्म का विश्वास नहीं है। जैन धर्म का तो यह ध्रुव सिद्धांत है, कि प्रत्येक भगवान आत्मा ही है, हर साधक सिद्ध हो सकता है, भक्त भगवान बन सकता है। हरेक आत्मा परमात्मा बन सकता है। हर आत्मा में महान् ज्योति जल रही है, प्रकाश कहीं बाहर से नहीं आता, वह तो

अन्तर में से ही उद्बुद्ध होता है, प्रकट होता है। आनन्द और शांति का महासागर हर साधक के अन्तर मानस में ठाठें मारता रहता है। प्रत्येक साधक का प्रसुप्त चैतन्य जाग उठता है। तभी वह भक्त से भगवान बनता है। कषाय युक्त से कषायमुक्त हो जाता है। रागी से वीत रागी हो सकता है। क्षुद्र से विराट, लघु से महान् और अणु से महत् बनने में ही साधक को साधना का मूल्य है, महत्व है। भक्त और भगवान् में क्या अन्तर है ? आत्मा और परमात्मा में क्या भेद है ? इस विषय में एक कवि कहता है —

"आत्मा परमात्मा में,
कर्म ही का भेद है।
काट दे गर कर्म,
तो फिर भेद है, न खेद है।"

साधना के इस विराट पथ पर संत भी चलता है, और गृहस्थ भी गति कर सकता है। श्रावक और श्रमण, गृहस्थ और सन्त दोनों के जीवन का लक्ष्य एक ही है, उद्देश्य एक ही है। कुछ कदमों का अन्तर भले ही रहे, आगे-पीछे का अन्तर भले ही रहे। एक तेज गति से बढ़ रहा है, तो दूसरा मन्द गति से। परन्तु दोनों का पथ एक है, संलक्ष्य एक है—इसमें कोई अन्तर नहीं।

अभी एक मुनिजी आप से प्रेम के सम्बन्ध में कह रहे थे। यह निश्चित है कि जब तक प्रेम नहीं होगा, भक्ति में एक-

दमक नहीं आ सकती। जिस मानव जीवन के अन्दर प्रेम नहीं, स्नेह नहीं, घृणा, द्वेष और स्वार्थ की आग जलती रहती है वह मानव जीवन चेतना हीन है, प्राण रहित है, मुर्दा है। सद्भाव और वात्सल्य के अभाव में सम्पूर्ण क्रिया काण्ड— भले ही वह कितना भी ऊँचा क्यों न हो ? किन्तु वह अंक शून्य बिन्दु के समान है। जीवन-कल्याण में उसका कुछ भी उपभोग नहीं। जैन संस्कृति के महान् दार्शनिक और भक्त आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

आचार्य कहता है—रे मन, क्या तू ने भगवान का नाम अभी सुना है ? नहीं, अनेक बार सुना है, अनेक बार जपा है, अनेक बार दर्शन भी किया है, भगवान का, भक्ति और स्तुति भी की है फिर भी ऐसी स्थिति क्यों ? जीवन की साध पूरी क्यों नहीं हुई ? आचार्य कहता है, सब कुछ किया, परन्तु भावना शून्य होकर किया। भावना न हो, और भक्ति की जाए, तो उस का कोई फल नहीं, कोई लाभ नहीं। भावना रहित जप और तप, भावना शून्य क्रिया काण्ड, भावना विकल भक्ति और पूजा व्यर्थ होती है। क्यों कि उस में प्राण नहीं रहता। आत्मा रहित शरीर के सदृश वह तो शव मात्र हो रहता है। यह तो

जीवन का एक परखा हुआ सत्या है, कि चेतना रहित शरीर से कभी प्यार नहीं किया जाता। उसे घर में स्थान नहीं रहता, श्मशान में ले जाया जाता है, भस्म करने को, जलाने को। इसी प्रकार भावना रहित भक्ति भी निरर्थक ही है। उससे जीवन की साध पूरी नहीं होती।

जल में पड़े पत्थर पर जल का कोई प्रभाव नहीं होता। भले ही वह हजार वर्ष तक भी क्यों न पड़ा रहे? उसी जल में जब वस्त्र निर्मित पुत्तलिका डाली जाती है, तो वह भींग जाती है। उस के कण-कण में जल रम जाता है। परन्तु सूख जाने पर उस की क्या दशा रहती है? गीली रहने पर तो फूली रहती है, सूखने पर सिकुड़ जाती है। इसी जल में मिसरी डालो, तो क्या होता है? जल के कण-कण में वह अपने आपको आत्मसात् कर देती है। संसार में मनुष्य भी तीन प्रकार के हैं—एक वे जिन पर उपदेशों का असर नहीं होता, दूसरे वे जो सुनते समय तो नम्र रहते हैं, परन्तु बाद में स्नेह शून्य हो जाते हैं, और तीसरे वे जो एक बार धर्म को ग्रहण करने पर कभी छोड़ते नहीं। उनके जीवन जल में धर्म की मिसरी घुलकर एक मेक हो जाती है।

जब हम आज के भक्तों को देखते हैं, मालूम पड़ता है, कि वे भक्ति के सागर में पत्थर की तरह पड़े रहते हैं। भक्ति करते-करते बूढ़े हो जाते हैं, पर उनका अभिमान नहीं टूटता द्वेष और घृणा को मन से दूर नहीं कर पाते। जरा सा देखते

ही उनका दिमाग अपने काबू में नहीं रहता। वे अपने आपको संयत नहीं रख सकते हैं। दूसरे भक्त वस्त्र निर्मित पुत्तलिका की तरह होते हैं। जब उनकी भक्ति धारा चलती है, तो मालूम पड़ता है, कि वे सिद्धि के समीप हैं। परन्तु ज्यों ही धर्म स्थान से निकले, सब भक्ति हवा हो जाती है। तीसरे भक्त वह है, जो धर्म को अपने जीवन में उतारते रहते हैं। अपने जीवन को सफल करते रहते हैं।

वर्तमान जितने भी सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक कार्य क्षेत्र हैं, वे कब सूने पड़े हैं। क्यों कि हृदयों में स्नेह का सरस नहीं रहा है, सम रसता नहीं रही है। कार्य करते हैं, परन्तु प्राण रहित होकर। निष्क्रिय होकर करते हैं। कायर सिपाही मैदान में तो जाता है, किन्तु मन नहीं चलता है। वही हालत समाज की हो रही है। उसका जीवन लड़खड़-सा रहा है जीवन क्षेत्र में जब संकट आते हैं। तो भागने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु डटकर संकटों का सामना नहीं कर सकते, मोर्चा नहीं ले सकते। जब तक जीवन में गहरी निष्ठा और ऊंची श्रद्धा नहीं होती है, तब तक भक्ति, स्तुति और जप तप सब सार हीन ही रहता है, निरर्थक ही रहता है। भक्ति करो, स्तुति करो, साधना करो और आराधना करो—पर स्नेह सद्भाव के साथ करो। अल्प क्रिया काण्ड भी भावना का स्पर्श पाकर सार्थक हो जाता है। अतः जो भी कुछ करो, भावना के साथ करो। यही

विकास का मार्ग है। यही जीवन-कल्याण की सही दिशा है। भक्ति की सम रसता ही जीवन के उत्थान में प्रवल साधन है।

सोजत]

:११:

चार प्रकार के यात्री

एक अज्ञात और अपरिचित व्यक्ति जब किसी के घर पर आता है, तब उस से पूछा जाता है, कि आप कौन हैं ? कहां से पधारे हैं ? क्या करना है ? और कहां जाना है ? आप कहेंगे, ये भी कोई बड़े प्रश्न हैं। आने वाला कह सकता है—"मैं क्षत्रिय हूँ, या वैश्य हूँ! उदयपुर से आया हूँ, व्यापार करना है, जयपुर जाना है। जीवन की यह स्थिति स्पष्ट और सज्ञान है।

परन्तु, आने वाला व्यक्ति आप के चार प्रश्नों में से एक का भी जवाब न दे, तो आप उसे क्या समझेंगे ? पागल अथवा मूक। संसार में बहुत से मनुष्य इसी प्रकार के हैं, जो अपने

जीवन की यात्रा में अन्धकार में भटक रहे हैं। कहां से आए, कौन हैं, क्या करना है, और कहां जाना है। इस बारे में वे कुछ भी नहीं जान पाते। ऐसे मनुष्यों का जीवन एक दयनीय जीवन है। चल रहे हैं। पर चलने के उद्देश्य का पता नहीं। मिथ्यात्व के तमिस्र में, अज्ञान के अन्धकार में भटकते-भटकते अनन्त काल हो गया आत्मा को, पर कल्याण नहीं कर सकी। क्योंकि उसे अभी तक प्रकाश नहीं मिला है। अंधेरे में तो भटकना ही होता है, चलना नहीं।

भगवान् बुद्ध से पूछा गया—भंते ! यात्री कितने प्रकार के होते हैं ? सहज वाणी में उत्तर मिला—चार प्रकार के होते हैं।

पहला—जो अन्धकार से प्रकाश में जाता है। दूसरा—जो प्रकाश से अन्धकार में जाता है। तीसरा—जो प्रकाश से प्रकाश में जाता है। चौथा—जो अन्धकार से अन्धकार में जाता है। जो आत्मा अन्धकार से अन्धकार में और प्रकाश से अन्धकार में जाने वाला है, वह पापात्मा है, और जो अन्धकार से प्रकाश में तथा प्रकाश से प्रकाश में जाने वाला है, वह पुण्यात्मा है।

आत्मा के पतन का मुख्य कारण है—मिथ्यात्व, कषाय और प्रमाद। मिथ्यात्व से वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। कषाय से वह सदा अशान्त रहता है। प्रमाद से वह उत्थान के लिए सत्प्रयत्न नहीं कर पाता। भगवान् की वाणी है—

"साधक ! तू संसार के अंधेरे में भटकने के लिए नहीं है। तेरी यात्रा तो ज्ञान और विवेक पूर्वक होनी चाहिए। सम्यक्त्व से तू मिथ्यात्व को हटा, उपशम भाव से कषाय को जीत और

अपने बल, वीर्य तथा पराक्रम से प्रमाद को दूर कर। तू अन्धकार से आया है, तो चिन्ता नहीं, पर यहां से प्रकाश की ओर जाएगा। हां, ध्यान रहे, अन्धकार की ओर तेरी गति न हो।

साधक! तू अपने अन्तर में गहरा डूब जा और विचार कर मैं कौन हूँ? मैं देह नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ। क्योंकि ये सब तो पुद्गल हैं, और मैं हूँ चिन्मात्र शक्ति। शरीर मेरा घर है, पर वह शास्वत और सनातन नहीं है। शाश्वत और सनातन तो एक मात्र आत्म तत्व ही है। कृष्णत्व और शुक्लत्व-मेरा नहीं, पुद्गल का धर्म है। न मैं स्थूल हूँ और न मैं सूक्ष्म हूँ। मैं तो अनन्त और अक्षय शक्ति का भंडार हूँ। मैं अनन्त हूँ, शाश्वत हूँ, सनातन हूँ।

कहां से आया हूँ? मैं एक यात्री हूँ। अनन्त काल से मेरी यात्रा चल रही है। जब तक मैं विभाव दशा में हूँ, तब तक मेरी यात्रा चालू ही रहेगी। स्वभाव दशा प्राप्त होते ही मैं स्थिर शान्त और अचल बन जाऊंगा। सकर्मा हूँ, तभी तक मेरी यह यात्रा है, अकर्मा होते ही मैं सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ।

क्या करना है? अपने विकार को जीतना है, अपनी वासना को जीतना। अपने विकृत मन को संस्कृत बनाना है। आत्मा का संस्कार करना है, परिष्कार करना है। क्योंकि अनन्तकाल से वह कर्म, माया और वासना के संयोग से अशुद्ध और अपवित्र बना हुआ है।

कहां जाना है? प्रकाश की ओर जाना है। ज्ञान और

विवेक की ओर जाना है। असत्य से सत्य की ओर जाना है मरण से अमरत्व की ओर जाना है। वहां जाना है, जहां से लौटना नहीं। साधक का साधकत्व कहेगा—"अब हम अमर भये,न मरेंगे।" जिसने अपनत्व को पा लिया, उसका मरण कैसा ? निजत्व में जिनत्व का संदर्शन करने वाला अजर और अमर हो जाता है।

मैं आप से कह रहा था. कि साधक वह जो अन्धकार से प्रकाश में जाता है। और प्रकाश से प्रकाश में जाता है। प्रकाश से प्रकाश में जाने का अर्थ है, अमरत्व प्राप्त कर लेना। अन्धकार से प्रकाश में जाने का तात्पर्य है, पशुत्व भाव से मानवत्व भाव में आना। सच्चा इन्सान बन जाना। किन्तु प्रकाश से अन्धकार में जाने का मतलब होगा, मनुष्य से पशु बन जाना। देव से दानव हो जाना। अन्धकार से अन्धकार में जाने का फलितार्थ है, कीट पतंगे बनना। पशुत्व भाव से भी अधिक हीनतर और हीनतम स्थिति में पहुंच जाना। यह मिथ्यात्व भाव की दशा है, स्थिति है। जहां अन्धकार ही अन्धकार है, भटकना ही भटकना है। जीवन की यह स्थिति बड़ी भयंकर है।

मैं आप से कह रहा था, कि सच्चा साधक वह है, जो अपने विकार को, अपनी वासना को और अपनी आसक्ति को जीत लेने में समर्थ होता है। अनुकूलता में फूले नहीं, और प्रतिकूलता में अपनी राह को भूले नहीं।

एक मस्त सन्त किसी नगर में पधारे। जनता ने बड़े ही उत्साह के साथ स्वागत किया। राजा और रानी को भी सूचना

मिली, वे भी सन्त के दर्शनों को आए। राजा ने सन्त से प्रार्थना की—"मेरे राज भवन को पावन कीजिए।" सन्त ने अपनी मस्ती में कहा—सभी भवन, राज भवन हैं। परन्तु राजा की अति प्रार्थना पर सन्त राजभवन में जा विराजे। सेवा, भक्ति और सत्कार की क्या कमी थी! रानी राजा से भी अधिक श्रद्धा शील थी। रहने में, सहने में, खाने में पीने में, सन्त का विशेष ध्यान रखा जाता था। रानी की अति भक्ति ने राजा के मन में संशय खड़ा कर दिया।

राजा के मन में विचार आया—गृहस्थ में और सन्त में क्या अन्तर है? जैसा हम खाते-पीते है, वैसा यह भी खाता-पीता है। महल में रहता है। जीवन के समस्त सुखद साधन इसे यहां उपलब्ध हैं फिर त्याग क्या रहा?

सन्त मन में राजा के संशय को समझ गया। व्यवहार मनुष्य के मन का दर्पण होता है। राजा से सन्त ने कहा-जिज्ञासा हो तो कुछ पूछो। राजा बोला-एक ही जिज्ञासा है, कि आप में और हम में किन बातों में भेद है? सन्त ने कहा—योग्य समय पर समाधान हो जाएगा।

सन्त अपने मन के मौजी होते हैं। कन्धे पर अपना फटा कम्बल डाला और महल छोड़कर चल पड़े। सूचना पाते ही नगर के नर-नारी और राजा-रानी भी पीछे-पीछे दौड़े। नगर से कुछ दूर एक लघु ग्राम में सन्त ठहरे। रूखी-सूखी मोटी रोटी साथ में छाछ, सन्त बड़े आनन्द में भोजन करने लगे। राजा

को भी ग्राम में वही भोजन मिला। परन्तु गले से नीचे नहीं उतर रहा था। राजा की परेशानी देखकर सन्त बोले—

"राजन्, आप में और मुझ में यही अन्तर है। जैसा सुख मुझे महल में था, वैसा ही यहां पर है। रूखी-सूखी मोटी रोटी में वही आनन्द है, जो आप के मोहन भोग में था। राजा ने सन्त के चरण पकड़ कर कहा—मेरा समाधान हो गया।

सच्चा साधक वह है, जो अनुकूलता में और प्रतिकूलता में सम रह सके। यही प्रकाश से प्रकाश में जाने का जीवन है। ऐसा विवेकशील व्यक्ति कभी अन्धकार में नहीं भटक सकता।

———

: १२ :

आज का प्रजातन्त्र और छात्र जीवन

भारत की संस्कृति में शिक्षा के साथ दीक्षा को भी जीवन-विकास में परम साधन माना है। शिक्षा शून्य दीक्षा और दीक्षा विकल शिक्षा-दोनों व्यर्थ हैं। जीवन में दोनों की अनिवार्यता है। शिक्षा एक सिद्धांत है, तो दीक्षा उसका प्रयोग है। शिक्षा ज्ञान है, दीक्षा क्रिया है। शिक्षा विचार है, तो दीक्षा आचार। शिक्षा आँख है, तो दीक्षा पाँव। देखने को आंख और चलने को पांव हो। तभी जीवन-यात्रा शान्ति और आनन्द के साथ तय की जा सकती है। शिक्षा से बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास होता है, और दीक्षा से दैहिक विकास होता है।

भारत की संस्कृति में शिक्षा का आदर्श है, शिक्षा का ध्येय विन्दु है।

मैं आप को प्रेरणा करता हूँ, आप शिक्षा और दीक्षा में समन्वय साधकर चलें। विचार, आचार और अनुशासन, छात्र-जीवन के ये साध्य तत्त्व हैं। विचार से जीवन में प्रकाश मिलता है, आचार से जीवन पवित्र बनता है, और अनुशासन से जीवन सहिष्णु और तेजस्वी बनता है। आप लोग परस्पर सहकार रखो, अध्यापक वर्ग का आदर करो। छात्र जीवन भावी जीवन की आधार-शिला है। नींव मजबूत हो, तो उस पर भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है।

आप लोग अपने जीवन को मधुर, सुन्दर और सरस बनने के लिए आत्म, विश्वास सहिष्णुता और सहयोग की भावना को जागृत कीजिए। आत्म-विश्वास का अभाव भावी जीवन के प्रति चिन्ता उत्पन्न करता है। आज हम जिस युग में सांस ले रहे हैं, वह लोक तन्त्र का युग है, प्रजातन्त्र का युग है। इस युग की सब से बड़ी देन है, आत्म-विश्वास। एकतन्त्रीय युग में हर किसी को बोलने और करने की छूट नहीं थी। मनुष्य को अपने विचार-भले ही वे कितने ही सुन्दर क्यों न हों-अपने मन की कब्र में ही दफनाने पड़ते थे। परन्तु, आज तो हम अपने विचारों का प्रचार भी कर सकते हैं, और उनके अनुसार कार्य भी। प्रत्येक व्यक्ति आज अपने जीवन का राजा है, सम्राट है। विकास के साधनों का उपयोग हर कोई कर सकता है। जाति

और कुल के बन्धन आज नहीं रहे हैं। आज जाति की पूजा नहीं, मानव की पूजा का युग है। प्रजातन्त्रीय देश के नागरिक होने के नाते, आपके दायत्व आज बढ़ गए है। उनका भली भाँति पालन करने के लिए आप में अटूट और अखूट आत्मः विश्वास का बल होना ही चाहिए ।

दूसरा गुण है, सहिष्णुता। आज जीवन में इस की बड़ी आवश्यकता है। सहिष्णुता के बिना ज्ञान की साधना नहीं की जा सकती। आप अपने जीवन के बारे में भला-बुरा सोचने में सक्षम हो। जीवन के भव्य प्रवेश द्वार पर पहुंचने के प्रयत्न में हो। यदि इस काल में आप सहिष्णु नहीं बन सके, तो गृहस्थ जीवन के संघर्षों में आप उलझ कर परेशान और हैरान बन जाओगे। सम्भव है, आशा के हिमगिर से गिर कर पतन के, निराशा के अन्धकूप में भी जा गिरो। ऐसी विषम स्थिति में अपने आप को सम्भाल कर रख सकना, सरल नहीं होगा। अतः सहिष्णुता का गुण एक महान् गुण हैं। वह जीवन में आप को कर्मठ, क्रियाशील और तेजस्वी रखेगा।

तीसरा गुण है, सहयोग। व्यक्ति कभी अपने आप में बन्द नहीं रह सकता। वह एक मूल केन्द्र है, जिस के आस-पास परिवार है समाज है, और राष्ट्र है। आज परिवार, समाज और राष्ट्र का दुःख-सुख उसका अपना दुःख-सुख बनाता जा रहा है। समाज का संकट आज व्यक्ति का संकट है, समाज की समस्या आज व्यक्ति की समस्या है। युग के साथ कदम

बढ़ाकर चलना आज के युग का नया नारा नहीं है। वेद में कहा है—संगच्छध्वं कदम मिलाकर साथ चलो। जैन संस्कृत में इस भावना को सह धर्मिवत्सलता कहा गया है, आज के युग में इस भावना को सह अस्तित्व, सहकार और सहयोग कहते हैं। आप एक दूसरे के साथ सहयोग की भावना रखकर चलें।

मैं आज अपने आपको आपके मध्य में पाकर परम प्रसन्न हूँ। मैं भी कभी आपके ही समान छात्र था, और सत्य तो यह है, कि मैं आज भी अपने आपको एक विद्यार्थी ही समझता हूँ। सम्पूर्ण जीवन ही ज्ञान की साधना के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। ज्ञान की प्यास बुझी, कि मनुष्य का विकास रुका। नया ज्ञान, नया विचार और नया चिन्तन सदा होते ही रहना चाहिए। जो स्थिति आज हमारे सामने है। उसके आधार पर मैं स्पष्ट कह सकता हूँ, कि एक परिवर्तन अवश्य हो रहा है। युग बदल गया है। वह समय अब दूर नहीं रहा जिस में एक सुन्दर मानव समाज का निर्माण होगा। उस समाज में जाति, कुल और धन की नहीं, व्यक्ति के सद्गुणों की सत्ता और महत्ता स्वीकार होगी।

अन्त में, मैं आप से यही कहूंगा, कि आप जो भी कार्य करें एक रस, समरस होकर करें, उसमें अपने मन के मधुर और कोमल भावों को उड़ेलते रहें। सफलता फिर आप से दूर नहीं रहेगी। मुझे प्रसन्नता है, कि मैं यहां दूरसौंग में

आया, और एक सप्ताह आप के स्कूल में रहकर अब आगे की यात्रा के लिए चल पड़ा हूँ। मैं आप के जीवन की मधुर संस्कृति लेकर जारहा हूँ आप स्वतन्त्र भारत के योग्य नागरिक बनें, यही मेरी मंगल भावना है।

———

: १ ३ :

जैन संस्कृति की अन्तरात्मा

जैन संस्कृति, जन जन की संस्कृति रही है। आचार की पवित्रता और विचार की विराटता जैन संस्कृति का मूल आधार है। यह संस्कृति गुणों के विकास को महत्व देती है। किसी भी जाति और कुल की ऊंचता-नीचता को नहीं। जैन संस्कृति जाति, कुल, देश और धन के बन्धनों से मुक्त होकर जन २ को भेद और विरोध से दूर हटा कर एकत्व और भ्रातृत्व का संदेश देती है। वह मानव को विराट और महान् बनाने की प्रेरणा करती है।

मनुष्य का जीवन केवल उसी तक सीमित नहीं है, वह जिस समाज और राष्ट्र में रहता है, उसके प्रति भी उस का

कर्तव्य है। कर्तव्य से पराङ मुख होकर भागने में मनुष्य का गौरव नहीं है, उसका गौरव है हजारों हजार बाधाओं को, रुकावटों को पार कर के अपने कर्तव्य कर्म को जन कल्याण की भावना से करते जाना। इस निःस्वार्थ कर्म योग में यदि उसे जनता का स्वागत सत्कार मिले तो क्या? और यदि चारों ओर से हजार २ कण्ठ स्वरों से विरोध मिले, तो भी क्या?

मनुष्य अपने जीवन में अहिंसा, सत्य और सहयोग की भावना अपना कर ही अपना विकास कर सकता है। सम्प्रदाय वाद, जाति वाद और वैर-विरोध की नीति उस के विनाश के लिए है, विकास के लिए नहीं। जैन संस्कृति कहती है, कि मनुष्य स्वयं ही देवत्व और दानवत्व में से किसी भी एक व्यक्तित्व को चुन सकता है।। वह देव बन कर संसार के सामने ऊंचा आदर्श रख सकता है, और दानव बन कर जीवन का नाश भी खरीद सकता है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का स्वामी है, जीवन का सम्राट है। विचार और विवेक से वह बहुत ऊंचा उठ सकता है। मनुष्य के विकास में ही समाज और राष्ट्र का भी विकास है, और उसके पतन में उनका भी पतन ही है।

जैन संस्कृति विचार-स्वतन्त्रता को मुख्यता देती है। अन्धविश्वास, अन्ध परम्परा और रूढिवाद का विरोध करती है। सत्य जहां कहीं भी मिलता हो, ग्रहण कर लेना चाहिए। जो सत्य है, वह सब मेरा है, यह जैन संस्कृति का आघोष रहा

है। जैसे दूध में से मन्थन द्वारा घृत निकल आता है, वैसे लोक जीवन के मन्थन से जो सत्य निकलता है, वह सब अपना ही है। हां, मनुष्य का मनन और मन्थन क्षीण नहीं हो जाना चाहिए। यदि उस में विवेक शक्ति नहीं रही, तो फिर अर्थ का अनर्थ भी होते क्या देर लगती है ?

आज के प्रत्येक धर्म के नीचे इतना कूड़ा करकट एकत्रित हो गया है कि जिससे धर्म का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट होने लगा है। विवेक और ज्ञान के प्रवाह से उसे बहा देना चाहिए। जैन संस्कृति का सीधा विरोध अन्ध विश्वास और अज्ञानता से है।

भारत के बहुत से लोग कहते है, "नर और नारी में बहुत बड़ा भेद है" नारी, नर के समान कार्य नहीं कर सकती। यह भी एक अन्ध विश्वास है मेरा अपना विश्वास तो यह है, कि क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर सभी कार्यों में नारी ने अपनी विशेषता सिद्ध कर दी है। आत्म-साधना जैसे जटिल तथा विषम मार्ग में भी वह नर से पीछे नहीं रही है। जैन संस्कृति कहती है समाज रूपी रथ के नर और नारी बराबर के पहिये हैं, जिस से कि समाज की प्रगति होती रहती है।

सत्य के महा पथ पर अग्रसर होने वाले नर हों, नारी हों, बाल हों या वृद्ध हों ? उन सभी का जीवन समाज और राष्ट्र के लिए मंगलमय वरदान है।

———

: १४ :

श्रमण संस्कृति का प्राणवन्त प्रतीक

पर्वराज-पर्युषण

श्रमण संस्कृति का मूल-तत्व भोग में नहीं, योग में है। प्रेम से विमुख हो, श्रेय के सन्मुख होना-श्रमण-परम्परा का मूल दर्शन है। सन्त-संस्कृति का कल्प-पादप मानव मानस की बाहरी धरती पर नहीं, अन्तस्तल के सरस धरातल पर ही पनपता है, फलता और फूलता है। वहां भौतिक सत्ता की महत्ता नहीं, अध्यात्म वादी अन्तर्दर्शन का मूल्यांकन किया जाता है।

मानव मन के अन्तरंग के माध्यम से चलने वाली सन्त संस्कृति जन-जन के मन-मन में एक ही विचार-ज्योति को जन्म देती रही है-"पर का दमन मत करो, अपना करो। पहले अपने

को पहचानो, अपने को समझो। अपने दोषों का परिहार करो, दूसरों के गुणों को स्वीकार करो। अन्तस्तत्त्व की ज्योति से ज्योतित करते रहो, अपनी जीवन दीप-शिखा को।"

आज का मानव अपने आप को नहीं देखता, वह देखता है, अपने पड़ौसी की ओर। जब कि श्रमण-संस्कृति की सब से पहली आवाज यह कहती है, कि "अपने आप को संभाल, साधक! तू सुधरा, सारा समाज सुधरा। तू सुधरा, सारा जग सुधरा।" महावीर पहले सधा, तो हजारों हजार महावीर पैदा हो गए। एक दीपक की लौ हजारों और लाखों दीपों को प्रज्वलित कर देती है। मूल ज्योति 'महावीर' से ज्योतित होने वाली जीवन-ज्योतियों की एक लम्बी परम्परा आज तक चली आ रही है चलती चली जाएगी। इन्द्र भूति, सुधर्मा और जम्बू की जीवन-ज्योति के दिव्यालोक से आज भी श्रमण संस्कृति जग-मग कर रही है। संसार महा सागर के ये महा ज्योति स्तम्भ आज भी राह भटके मानवों को जीवन की सही दिशा की ओर संकेत कर रहे हैं।

पर्युषण कल्प का महापर्व इस अमर सन्देश की उद्घोषणा करता है कि—"मानव,-भोग-क्षोभ की विलास-विभ्रम की और सत्ता-महत्ता की साज सज्जा में,—तू सुख की कल्पना, समृद्धि की जल्पना तथा शान्ति की कामना मत कर,-मूल मत जग की चमक दमक में। जो पाना है, वह मिलेगा-"अन्तस्तत्त्व के चिन्तन से, मन के मन्थन से और अपनी चित्तवृत्तियों के मन्थन से।"

आज न केवल व्यक्ति ही सारा समाज और समूचा संसार भी अपनी समस्याओं से विकल है, परेशान और हैरान है। कहीं जातिगत विद्वेष की ज्वाला कहीं प्रभुत्व की सत्ता का अनर्थकारी उन्माद, और कहीं वर्ण-भेद एवं रंग-भेद का विभत्स नग्न नृत्य। वह भी इस युग में जब कि विश्व के एक कोने का स्वर दूसरे कोने में क्षणों में ही झंकृत हो उठता है। हमारे बाहरी प्रसार के साथ अन्तर का प्रसार भी विराट बनना चाहिए। पर्युषण कल्प की साधना मानव मन के कण-कण में विराट भावना को जागृत करती है।

———

: १५ :

मानव की महत्ता

मनुष्य का जन्म प्राप्त करना साधारण बात नहीं है ? बहुत लम्बी जन्म-मरण की यात्रा तैय करते हुए मनुष्य का जन्म मिला है। पर, उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना, मनुष्य के पूर्वगत संस्कारों पर निर्भर होता है। मनुष्य अपने विचारों का प्रतिफल है। वह जैसा सोचता है, वैसा बन जाता है। उसका उत्थान और पतन उसके अपने हाथ में रहता है। शास्त्र या गुरुजन तो मात्र सहायक रहते हैं। उच्चतम विचार ही मनुष्य की अपनी थाती होती है।

उच्च विचारक की प्रत्येक बात शास्त्र है। वस्तुतः शास्त्र है भी क्या चीज ? उच्चतम विचार राशि ही तो शास्त्र है न ?

और उसका स्रष्टा कौन है ? नारकी, पशु या देवता उसका स्रष्टा नहीं हो सकता। उसका स्रष्टा है, मनुष्य। आप मेरी भावना को स्पर्श कर रहे होंगे ? मेरा अभिप्राय यह है कि शास्त्र का प्रणेता मनुष्य ही है, और कोई नहीं। मनुष्य को विचार शक्ति मिली है, वह विचारशील है। निरुक्तकारों ने 'मनुष्य' शब्द की बहुत ही सुन्दर और गम्भीर निरुक्ति की है। अचार्य यास्क ने अपने निरुक्त शास्त्र में लिखा है—"मत्वाकार्याणि विषो व्यक्ति, इति मनुष्यः। अर्थात् जो सोच-समझकर काम करता है, वही मनुष्य कहलाता है।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि शास्त्र-प्रणेता मनुष्य ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं। परन्तु इस विषय में विश्व की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का मतैक्य नहीं है। मैंने जो कुछ कहा है, यह जैन संस्कृति की मान्यता है। जैन संस्कृति का कहना है, कि शास्त्र मनुष्य लोक में बने है। अतः उनका प्रणेता मनुष्य ही हो सकता है। जैनेतर धर्मों की विभिन्न धारणाएं काम कर रही हैं। वह इस प्रकार हैं —

"शास्त्रों के बनाने वाले देवता हैं, क्यों कि उनके अन्दर अद्भुत शक्ति रही हुई है।"

"देव नहीं, ईश्वर ही शास्त्रों का जन्मदाता है।"

"सृष्टि को विश्वकर्मा ने बनाया है। अतः शास्त्रों का रचियता भी विश्वकर्मा ही है।"

"कुरान ही सबसे बड़ा शास्त्र है। और उसका बनाने वाला खुदा है।"

"बाईबिल ही महान् शास्त्र है। और उसका प्रणेता 'गॉड' ,God' है।"

सभी का अपना-अपना विश्वास होता है। किन्तु आज के बौद्धिक युग में मात्र विश्वास से ही काम नहीं चल सकता। उसके साथ तर्क भी अत्यावश्यक है। जैन संस्कृति की मूल-भावना यह है, कि 'मनुष्य से बढ़कर विश्व में अन्य कोई शक्ति नहीं है। अतः शास्त्र-स्रष्टा मनुष्य (विशिष्ट मनुष्य) ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं।"

मुझे एक सज्जन मिले। बात-चीत से ज्ञात हुआ है कि वह अपने मस्तिष्क पर अविश्वासों का बेहद बोझा उठाये हुए है। उन्होंने कहा—"महाराज, आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण, साहित्य, दर्शन और ज्योतिष तथा योगशास्त्र आदि विषयों पर विशाल ग्रन्थ राशि लिख डाली है। मालूम होता है, इन्हें सरस्वती देवी सिद्ध होगी। अन्यथा, इतना विशाल साहित्य कैसे लिख सकते थे। मैंने कहा—"आप आचार्य हेमचन्द्र का और विशेषतः उन की प्रतिभा का अपमान कर रहे हैं, यह सम्मान नहीं है। क्या मनुष्य कुछ नहीं कर सकता? जो कुछ भी महान् है, वह सब क्या देवताओं की विभूति ही है?

शास्त्र मनुष्यों के द्वारा बने हैं, जो सर्वज्ञ थे या सर्वज्ञ नहीं तो सर्वज्ञकल्प थे। नारकी शास्त्र नहीं पढ़ सकते और पशु भी

शास्त्र-निर्माण नहीं कर सकते, देवताओं का जीवन भोगविलास का जीवन है। वे भला क्या शास्त्र बनायेंगे ?

मैं आप से कह रहा था कि शास्त्र का बनाने वाला मनुष्य है, क्योंकि मनुष्य ही शास्त्र-प्रतिपादित सिद्धान्तों को जीवन में उतार सकता है। विचार को आचार में बदल सकता है ? पशु में अनुभूति की कमी है और देवता में चारित्र का अभाव है। मनुष्य में विचार और आचार की दोनों ही शक्तियाँ पूर्ण हैं। अतः वह जहां उत्कृष्ट चिन्तन कर सकता है, वहां उसका आराधन भी पूर्ण रूप से कर सकता है।

मनुष्य की अपनी भव्य एवं विशाल अनुभूति ही उसका सब से बड़ा शास्त्र है। जो व्यवहार तुम अपने लिये चाहते हो, वही दूसरों के लिए होना चाहिये। जैसी अनुभूति तुम्हें होती है, वैसी ही दूसरों को भी होती है। अतः सभी के साथ समुचित व्यवहार करना चाहिए—

"आत्मनः प्रतिकूलानि,
परेषां न समाचरेत्"

यही सबसे बडा शास्त्र है, यही महत्वपूर्ण सिद्धांत है और यही है, जैन संस्कृति का मूल स्रोत। इस सिद्धांत की सृष्टि मनुष्य ने अपनी उच्चतम अनुभूति के आधार पर की है।

मैं आप से कह रहा था कि सच्चा मनुष्य वही है, जो दूसरों के प्रति अपने जैसा ही सरल बरताव करता है। तेल की बूंद जमकर नहीं बैठेगी, वह फैल जाती है। और घी की

बूंद जमकर बैठ जाती है। तुम्हारी अहिंसा और प्रेम भावना तेल की बूंद हो, जो समग्र विश्व के ऊंचे-नीचे सभी प्राणियों के प्रति एक भाव से फैल जाये। केवल अपने लिए अहिंसक रहना, कहां की उच्च भावना है? इतनी अहिंसा तो खूंख्वार जंगली हिंस्र पशु में भी मिल सकती है। जिस कष्ट से तुम पीड़ित हो रहे थे, वही तुम दूसरे को दो, तो क्या तुम मनुष्य बने रह सकोगे? आज से ढाई हजार वर्ष पहले भारत की पथ-भ्रष्ट मानवजाति को, भगवान महावीर ने मनुष्य के रूप में मनुष्यता का अमर उपदेश दिया था। उन्होंने हमें अपने पवित्र विचारों को आचार में बदलने की पवित्र शिक्षा दी है अतः वे सच्चे महामानव कहलाए।

प्रकृति की ओर से मिले हुए दुःख बहुत थोड़े होते हैं। मानवजाति की अधिकतर पीडाएं मानसिक ही होती हैं। और मानसिक पीडाएं मनुष्यों पर मनुष्यों की ओर से लादी गई हैं। भगवान महावीर ने कहा है—"जब तुम किसी को दुःख नहीं दोगे तब विश्व की दुःख राशि को समेट लोगे। दूसरों को दुःखों से छुटकारा दिलाओगे, तो तुम भी दुःखों से छुटकारा पाओगे। सुख और शांति का मधुर अनुभव प्राप्त कर सकोगे।"

भगवान महावीर ने किसी भी जीवन प्रवाह को बहने से नहीं रोका। उन का कहना है कि जीवन की गति को न रोको; बल्कि अपनी जीवन सरिता के प्रवाह को मर्यादित रूप से बहाओ। जब नदी में बाढ़ आजाती है, तब सैंकड़ों गांवों को नष्ट-भ्रष्ट कर डालती

है। किन्तु नदी का प्रवाह जब मर्यादा में बहता है, तब किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। कोई गृहस्थ हो या साधु, राजा हो या रंक, सेनापति हो या सैनिक जो अपनी मर्यादा में रहता है, वह कभी भी दुःखित नहीं होता। रावण ज्योंही मर्यादा से बाहर हुआ नष्ट हो गया। सीता अपनी मर्यादा पर अडिग थी, उसका कुछ भी नहीं बिगडा। हिंसा-अहिंसा की जो मर्यादाएं रही हैं, उनका परिपालन करने से मनुष्य कभी दुःख नहीं भोगता।

अनन्त पुण्य का उदय होने पर मनुष्य जन्म मिलता है। मनुष्य जीवन के लिए देवता भी बडी इच्छा रखते है। भगवान महावीर ने कहा—जिस तत्व को तुम समझ गए हो, उसे प्राप्त करने में विलम्ब मत करो, देर मत लगाओ। भोग-विलास में पड़कर जीवन को नष्ट न करो। यदि मनुष्य बन गए हो, तो मनुष्य के कर्तव्य सदा करते रहो। आत्मधर्म को पहिचानो, और उसका पालन करो।

:१६:

दीपावली और सहधर्मी सेवा

दीपमालिका का उत्सव आ गया है। अब की बार दीपमालिका का उत्सव कैसे मनाएंगे ? करुणा-मूर्ति भगवान महावीर का निर्वाण-महोत्सव मनाने के लिये कौन सी योजना काम में लाई जायगी ? क्या अब की बार भी वे ही आमोद प्रमोद के दौर चलेंगे ? विद्युत-दीपकों के रंग-विरंगे प्रकाश से महल जगमगाए जाएंगे ? नाना विध रस भरे मिष्टान्नों से उदर देव की आकण्ठ पूजा होगी ? घृत दीप के चमकते और महकते प्रकाश में महामाया लक्ष्मी का आह्वान होगा ?

भारत वर्ष के लिए जहां यह वर्ष असीम आनन्द और

उल्लास का वर्ष है, वहां असीम दुःख और दर्द का वर्ष भी है। सदियों पुरानी पराधीनता केसुदृढ़ बन्धनों को तोड़कर भारतवर्ष आज आजाद है, स्वतंत्र है। हजारों वर्षों के बाद यहां पर पहली दीपमालिका होगी, जिसे आप भारतवासी स्वतंत्र भारत में स्वतंत्रता के साथ मनायेंगे। परन्तु साम्प्रदायिक नेताओं के विषाक्ति और दुष्प्रचार से हिन्दु-मुसलिम तनाव इस चरम सीमातक पहुँच गया है, कि सब आनन्द किर किरा हो गया है। पाकिस्तान में साम्प्रदायिक उन्माद ने अपना जो भयंकर नग्न रूप दिखलाया है, उसके कारण आज मानवता का रोम-रोम सिहर उठा है। हजारों निरपराध शांत नागरिक बेदर्दी के साथ मौत के घाट उतार दिए गए हैं। हजारों माताओं और बहनों की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिलादी गई है, हजारों मासूम बच्चों के रक्त से भालों की नोंकें रंगी गई हैं, हजारों बलात् धर्म-परिवर्तन के रूप में भेड़ बकरियों के समान इधर उधर कैदियों का सा जीवन बिता रहे हैं। लाखों की लागत के गगन-चुम्बी महल आज राख के ढेर हैं, जिनमें न जाने कितने कितने जीवित जले हुए अभागे मानवों की लाशें दबी पड़ी होंगी।

मैं आज समस्त भारतवासियों से, विशेषतः जैन धर्माव-लम्बियों से प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि आप लोग इस भयंकर स्थिति में दीपमालिका का उत्सव कैसे मानायेंगे? पुरानी पगडंडी बदलना है या उसी पर चलाना है? भगवान महावीर

का पवित्र निर्वाणोत्सव अब की बार दूसरी तरह ही मनाना होगा। यदि आप जैन हैं और आप में कुछ भी जैनत्व का अंश है तो करुणा की अमृत धारा बहाकर ही दीपमालिका मनाई जायगी।

गुजरानवाला, स्यालकोट, रावलपिंडी, पशरूर और लाहौर आदि क्षेत्रों के सुविशाल जैन संघ आज पूर्ण रूप से बर्बाद हो चुके हैं। करोडों की सम्पत्ति अपनी आंखों के सामने गुन्डों के हाथों लुटती देखते रहे, कुछ भी तो नहीं बचा सके।

लाहौर के एक श्रीमन्त को, खूब अच्छी तरह जानता हूँ, कितना धनी मानी परिवार का स्वामी था वह ? परन्तु पाकिस्तान से जब वह दर्शन करने यहां आया, तो मैं उसकी दारुण दयनीय दशा को देखकर विकम्पित हो उठा। जब उसने अन्तर-वेदना की मुद्रा में यह कहा कि 'महाराज', यह करुना अमृतसर और लाहौर वालों की ही हुई है। मेरी आंखें आंसुओं से छलाछल आई, हृदय वेदना से तड़फ उठा। कोई भी मनुष्य जिसके शरीर में दिल हो, और दिल में दर्द हो, वह इस प्रकार के करुण दृश्य से मर्माहत हुए बिना नहीं रहेगा। एक क्या, अनेक घटनाएं ऐसी हैं, जो पत्थर को भी पिघला देने वाली हैं। पाकिस्तान के अत्याचारों से प्रताड़ित धर्मबन्धुओं की दर्दभरी कहनी, उनके मुंह की अपेक्षा उनका शरीर ज्यादा अच्छी तरह व्यक्त करता है, यदि कोई आंख खोलकर देख सके तो ?

आज उन लक्षाधिपतियों के पास आँखों में आंसू और मर्म वेदना के अतिरिक्त और है ही क्या ?

भारत वर्ष के जैन समाज का कर्तव्य, आज उसकी आँखों के समक्ष प्रदीप्त सूर्य प्रकाश के समान पूर्ण रूप से स्पष्ट—अब बहुत शीघ्र ही लिखे जाने वाले की तैयारी में है। इसमें क्या लिखा जायगा, यह बताने के लिये आज का जैन समाज पूर्णतया स्वतंत्र है। जैन समाज के पास साधनों का कमी नहीं है। वह संगठित होकर उत्साह भरे हृदय से यदि कुछ करना चाहे तो सब कुछ कर सकता है।

हजारों की संख्या में सर्वथा निराश्रित हुई जैन जनता के जीवन मरण का प्रश्न है। उसे अब सर्वथा नये सिरे से जीवन यात्रा प्रारम्भ करनी है। भोजन, वस्त्र और बसाने आदि की अपनी अनेकविध दुरूह समस्याओं को हल करना अब उन लोगों के बस की बात नहीं है। साधारण से दीक्षा और रथ यात्रा आदि के प्रसङ्गों पर लाखों की होली खेलने वाला जैन समाज यदि अपना दायित्व अनुभव करे, तो यह सब हिमालय जैसा महान् कार्य-भार आसानी से उठाया जा सकता है। जो जैन समाज पशु पक्षियों की दया पाल सकता है, और भट्टियां बंद कराकर एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा का भार उठा सकता है, क्या वह अपने धर्म बन्धुओं की रक्षा और सेवा का कर्तव्य सदा नहीं कर सकता ? अवश्य कर सकता है।

जैन धर्म में साधर्मी वात्सल्य का बहुतबड़ा महत्व गाया गया

है। जैन शास्त्रों की भाषा में श्रीसंघ को साक्षात त्रिलोक नायक तीर्थंकर देव के समान माना गया है। हां, तो श्री संघ की सेवा, तीर्थंकर देव की सेवा है। आज दुर्भाग्य से ही सही, परन्तु श्री संघ की सेव का महान् अवसर उपलब्ध हुआ है। मैं समझता हूँ जैन समाज अपने कर्तव्य स विमुख नहीं होगा। सौ दो सौ की साधन सम्पन्न विरादरी को भोजन करा देना और प्रभावना वितीर्ण कर देना ही साधर्मी वात्सल्य नहीं है। सच्चे साधर्मी वात्सल्य की परीक्षा का समय तो आज आया है। देखना है, कितने थैलीशाह अपनी थैलियों के मुंह खोलते हैं ?

मैं अपने सहधर्मी मुनिराजों के चरणों में भी नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि आप भी अपना समस्त साधन शक्ति का प्रवाह संघ रक्षा की ओर प्रवाहित कर दें। अबकी बार दीपमालिका के महापर्व पर भगवान महावीर के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण करें कि इस वर्ष न किसी बड़ी दीक्षा का ठाठ बाठ रचायेंगे, न तपश्चरण के महोत्सवों के फेर में पड़ेंगे। जैन धर्म के साधु और श्रावकों की सम्मिलित शक्ति आगामी दीपमालिका तक अपने पीड़ित जैन बंधुओं के लिए क्या व्यवस्था कर सकती है ? इसका निर्णय तो भविष्य पर ही आधारित है। मैं आशा करता हूँ कि आप अपने तन से मन से और धन से इस संघ-सेवा के महान् कार्य में अधिक से अधिक सहयोग भावना रखेंगे।

महावीर भवन देहली]

:१७:

अपने आपको हीन समझना पाप है।

आज आप के सामने मुझे जो कुछ बोलना है और जिससे बोलने के लिए-लालमन भाई, जो प्रति दिन निकट सम्पर्क में आते रहते हैं उनकी शुभ प्रेरणा कहिए, अथवा आपके अन्तर का सच्चा प्रेम समझिये-मुझे आप तक खींच लाया है।

हमें सभा मंच पर दृष्टिगत करके आपको परम आश्चर्य होरहा होगा, क्योंकि आप हम लोगों को तथा जैन धर्म के अनुयायियों को अपने पास मिल कर बैठे देख रहे हैं। जन्मजात संस्कार या हीन भावनाएं-जो आप में रहे हुए हैं-सम्भवतः उसी दृष्टि-विन्दु से सोचने के आदी होने के कारण आपको यह सब विचित्र सा अनुभव हो रहा हो।

हम अधम हैं, पतित हैं, हमारा उत्थान या विकास नहीं हो सकता, आदि हीन भावनाएं आपके विकास में सबसे प्रबल बाधक हैं, और ऐसा सोचना एक बहुत बड़ी दुर्बलता और भयंकर पाप है। क्योंकि जीवन का यह सर्वमान्य नियम है कि जो जैसा सोचता है, वह वैसा ही बन जाता है। हम अपने विचारों की प्रतिमूर्ति हैं। वीरता के संकल्प वीर बनाते हैं और कायरता के संकल्प कायर। जो जैसी श्रद्धा या विश्वास रखता है वह वैसे ही सांचे में ढल जाता है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

बात बिल्कुल ठीक ही कही गई है। मनुष्य यदि मन से साफ है, स्वयं अपने प्रति आप ईमानदार हैं तो वह किसी से भी छोटा या हीन नहीं है।

किसी जाति विशेष में जन्म लेने मात्र से ही मनुष्य की जाति हीन या उच्च नहीं मानी जा सकती, और विशेष कर आज के जागरणशील युग में तो जात-पांत की यह गली सड़ी दीवार इतनी जीर्ण-शीर्ण तथा जर्जरीभूत हो गई है कि एक धक्के की चोट भी बर्दाश्त नहीं कर सकती। लार्ड वेवल के समय में जब हम दिल्ली में थे तो वहां 'गान्धी-ग्राउण्ड' में 'अखिल भारत वर्षीय विद्यार्थी सम्मेलन' हो रहा था। जब चांदनी चौक से होकर क्रान्तिशील नवयुवकों का एक विराट जुलूस निकल रहा था तो उच्च स्वर से वे यही नारा लगा रहे थे:—

"इस गली सड़ी दीवार को एक धक्का और दो!"

उनके नारे का अभिप्राय था कि अंग्रेजी शासन की दीवार बिलकुल गल सड़ गई है, जर्जर हो गई है, उसे जरा एक धक्का और देकर भूमिसात् कर दो। इसी प्रकार की चेतनामय तथा ऊर्ध्वमुखी भावना जब आप के अन्तर्हृदय से निःसृत होगी तो क्या इस दीवार के ढह जाने में विलम्ब लगेगा ?

अस्तु, हमें इन सारहीन जाल-पाल के झगड़ों में अधिक मत्था पच्ची करने की आवश्यकता नहीं। किसी असद्वस्तु के विषय में अधिक सोच-विचार करने से भी मनुष्य का मस्तिष्क विकृत हो जाया करता है। इस दीवार को तो परिवर्तनशील युग के प्रबल थपेड़े लग चुके हैं और गांधी जी का तो ऐसा जोरदार धक्का लगा है कि जिस से यह दीयार गिरी ही समझिये। अढाई सहस्र वर्ष पूर्व का युग भी ऐसा ही अन्धकार पूर्ण युग था-जब कि भगवान् महावीर ने इस दीवार को तोड़ने का सफल प्रयत्न किया था। उस महावीर ने जिसकी चरण-शरण प्राप्त करने का मुझे पुण्य अवसर मिला है ? जिन के क्रान्तिशील शासन का मैं भी एक छोटा सा सदस्य हूँ तथा जिनकी उदात्त वाणी के अनुशीलन करने का मुझे परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यह महावीर जो एक राजकुमार थे, सोने के महलों में फूलों के बिछोनों पर, जिसका जन्म और पालन-पोषण हुआ था, जिनके दायें बायें चारों ओर संसार का विपुल वैभव और भोग-विलास की सामग्री अपने मोहक रूप में बिखरी पड़ी थीं

३० वर्ष की इठलाती हुई तरुणाई में इन भोग विलास और सोने के सिंहासन को ठोकर मार कर जन-कल्याण के लिए निकल पड़ा। उनका मन संसार की इन मोह माया की गलियों में न रमा, संसार की विषम स्थिति का भयावह हृदय उनकी आंखों के आगे रह रह कर नाचने लगा। उन्होंने देखा कि दुनिया कितनी ऊंची नीची है। कोई सम्मान सत्कार से, धन से, वैभव से ऊंचा है तो कोई अपमान, घृणा और दरिद्रता तथा जात-पांत की धधकती हुई प्रचण्ड ज्वाला में बुरी तरह झुलस रहा है।

भगवान् महावीर ने इस भेदभाव तथा घोर वैषम्य की खाई को पाटने का दृढ़ संकल्प किया और एक ऐसे नव समाज का निर्माण करना चाहा, 'जहां सबका स्तर एक हो, सब को सर्व विषय समाजन अधिकार हों, न कोई ऊंचा हो और न कोई नीचा हो।" "मानव-मानव एक और अहिंसा एवं सत्य सबका धर्म है। यह था उनका क्रान्तिशील नारा। उन्होंने अपनी विद्रोह भरी उदार वाणी में कहा—"मानव-मानव समान हैं, जात पांत यदि माननी ही है तो उसकी मूलभित्ति आचरण होनी चाहिए न कि जन्म। जन्म से तो न कोई यज्ञोपवीत धारण करके आता है, न कोई तलवार बांधकर आता है और न किसी के हाथ में कलम या झाड़ू ही होती है। भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यहां जन्म या जाति का कोई महत्व नहीं, यहां पूछ है आचरण की:—

"पच्चक्खं दीसई तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेसो कोई।"

मनुष्य की तो मनुष्य ही एक जाति है। गाय, भैंस, हाथी घोड़े आदि जिनकी नस्लें अलग अलग हैं, उनकी जाति का बोध नस्ल या आकृति मात्र से ही हो जाता है। किसी गधे या घोड़े से आज तक किसी ने यह प्रश्न नहीं किया कि-'आपकी क्या जाति है।" इसी प्रकार मनुष्य की जाति भी मनुष्य से यह पूछना कि "आप की जाति क्या है? उसका घोर अपमान करना है और मानव जाति को छिन्न भिन्न करने का दुष्प्रयत्न मात्र है। जरा विचार तो कीजिए कि कोई व्यक्ति अहिंसा, सत्य संयम आदि का प्रश्रय लेकर यदि अपने निम्न जीवन-स्तर से ऊंचा उठ कर जाता है तो उसकी आत्मा ने कितनी भाव-क्रान्ति एवं प्रबल साहस न किया होगा? दूसरी ओर वह जो जन्मना उच्च कहला कर भी पामर, असंयत तथा पाशविक जीवन यापन करता है। बतलाइये, क्या ऐसे गर्हित और अस्वर्ग्य जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को ऊंचा कैसे माना जाय? मैं आप से भगवान महावीर की बात कह रहा था अतः उनकी वाणी को उनके शब्दों में ही आप तक पहुँचा देना चाहता हूँ:—

"कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवई कम्मुणा॥

जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य या शूद्र नहीं होता ये सारी विशेषताएं तो आचरण से, संयम से प्राप्त होती हैं।

जब भगवान महावीर जात-पांत के विरुद्ध क्रान्ति का प्रयोग कर रहे थे तो इन जैसा ही एक और महापुरुष जनता के हृदय में क्रान्ति की उथल-पुथल मचा रहा था। वह महापुरुष भी जिसे हम भगवान् बुद्ध कहते हैं—विश्व को यह पुनीत सन्देश दे रहा था कि जन्मना जाति का निर्णय कभी भी मान्य नहीं हो सकता, जाति पांति का अस्तित्व प्रथम तो है ही नहीं और यदि मान भी लिया जाय तो इसकी आधारशिला आचरण है, जन्म नहीं।

भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द एक बार पाद-विहार करते जा रहे थे कि गर्मी के कारण उनको जोर की प्यास ने व्याकुल कर दिया। मार्ग स्थित कुएं पर जल भरती हुई बहन से उन्होंने पानी मांगा, तो वह बहन किंकर्तव्य विमूढ़ सी खड़ी रह गई, क्योंकि उसने कथित शूद्र जाति में जन्म लिया था। अपनी सारी शक्ति बटोर कर उस लड़की ने कहा—'महाराज! मैं तो एक शूद्र कन्या हूँ, आप को जल कैसे पिला सकती हूँ?' उस बेचारी को जन्मगत ऐसे ही संस्कार मिले थे, उसे समाज की ओर से घृणित, दलित और उपेक्षणीय व्यवहार का उपहार मिला था, वह अपने को सर्वथा हीन-हीन तुच्छ समझ बैठी थी। अतएव उसने भिक्षु को ऐसे दीनता भरे शब्दों में उत्तर दिया। आनन्द ने हंसकर कहा—'बहिन! मैंने तो तुम से पानी मांगा है, जाति नहीं, यदि मैं इन तत्कालीन और थोथे सिद्धान्त में कुछ सार समझता होता तो तुम से पहले ही पूछता

कि तुम्हारी क्या जाति है? और बाद में पानी मांगने की बात कहता।

आनन्द की इस मर्मस्पर्शी वाणी से शूद्र कन्या के हृदय का कण-कण खिल उठा। इन सारभूत शब्दों से उसे एक अभिनव प्रेरणा और एक नई चेतना मिली, एक अश्रुत-पूर्व दिव्य सन्देश मिला। उसने अपने जीवन को एक नए रूप में सोचा कि-'इस वैषम्य पूर्ण संसार में कम से कम एक स्थान तो ऐसा है, जहां हमारे ऊपर कोई घृणा नहीं बरसाता, जहां जात-पांत की कोई पूछ नहीं और जहां मानव-मानव एक हैं।' उसके जीवन की धारा बदली और वह-'बुद्धं सरणं, धम्मं सरणं संघं सरणं गच्छामि का दिव्य पाठ पढ़कर बुद्धशासन में दीक्षित होकर एक प्रख्यात विदुषी हुई।

'कर्म' शब्द का अर्थ यदि शास्त्रों का पठन-पाठन अच्छा समझा जा सकता है, कलम चलाना अच्छा माना जा सकता है, दीन-दुर्बलों के परित्राण के लिये तलवार चलाना अच्छा गिना जा सकता है तो क्या 'जन-सेवा 'जैसा महान् कार्य जिसके लिए आचार्य भर्तहरि ने यह कहा कि-'सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः' और जिसे आप नित्यप्रति करते हैं-क्या अच्छे की कोटि में नहीं आ सकता? आखिर, मनुष्य है और उसके सामने पेट भरने की दुनिया की सबसे आवश्यक समस्या है। इस उदर-पूर्ति के लिये उसे कोई न कोई कर्म तो करना ही पड़ता है। हां, यदि अच्छा धन्धा मिलता हो तो उसे भी

अवश्य करना चाहिये। किसी विशेष का किसी विशेष कर्म पर एक मात्र अधिकार नहीं हो सकता, विशेषकर आज के जनतन्त्र युग में। हां, बीच का काल ऐसा था जब कि शास्त्रों का पठन पाठन, चिन्तन मनन और लिखने लिखाने के लिये, जन रक्षार्थ तलवार चलाने के लिये सेवका का कार्य करने के लिये विशेष जाति का अधिकार मान्य समझ लिया गया था, और वह भारत के लिये सबसे दुर्भाग्य पूर्ण काल था जब कि ज्ञान की पावनी शक्ति को, जनरक्षा के आदर्श कार्य को तथा सेवा जैसी महती कर्म-शक्ति को एक संकीर्ण शिकंजे में जकड़ दिया था, जिसका दुष्परिणाम आज भारत भोग रहा है। इतिहास के उन पृष्ठों को उलटकर इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जान सकता है, कि तत्कालीन इस अदूरदर्शिता पूर्ण संकीर्णता तथा भेद-भाव भरी भूल से राष्ट्र को कितना लाभ या क्षति पहुंचाई है?

महावीर, बुद्ध और गांधी जी की दृष्टि में जो कार्य ईमानदारी और प्रसन्न भाव से कर्तव्य समझकर कृपारूप में किया जाता है, वही सुन्दर और अच्छा है। एक क्लर्क है जो बेचारा दिन भर कलम घिसता रहता है, परन्तु उस कार्य को राष्ट्र और समाज की सेवा की दृष्टि से कर्तव्य समझ कर नहीं करता, सुबह से शाम तक रोता पीटता और झपाकन्न देता रहता है, तो उसका वह कार्य सुन्दरता की कोटि में नहीं आ सकता। सड़क पर झाड़ू लगाने वाला एक हरिजन भाई जन कल्याण की दृष्टि से जनता के स्वास्थ्य की दृष्टि से, जन सेवा की दृष्टि

से और यह समझ कर कि मैं भी राष्ट्र तथा समाज का एक घटक हूँ। उसकी सेवा करना मेरा परम कर्तव्य है यह सोच कर उस कार्य को सुव्यवस्थित और सुन्दर ढंग से करने का प्रयत्न करता है तथा उसके करने में सुख एवं प्रसन्नता अनुभव करता है, तो वह कार्य सर्वांग सुन्दर समझा जाता है। आप अपने कार्य को छोटा और क्षुद्र कार्य मत समझिये यह कार्य भी उतना ही पवित्र है जितना कि बड़े से बड़ा कार्य पवित्र हो सकता है। इसके करने में आप गौरव की अनुभूति कीजिए। इस का अभिप्राय यह नहीं कि आप जीवन पर्यन्त इसी कार्य को करते रहें, दूसरे किसी कार्य को करने के लिये प्रयत्न-पराङ मुख रहें। यदि दूसरा कार्य करने की आपके अन्दर क्षमता है तो उसे भी अवश्य कीजिये। कोई भी कार्य किसी की बपौती नहीं है। कार्य मात्र को करने का जन-जन को अधिकार है। कुछ लोग कहा करते हैं कि वंश परम्परा से जिसको जो कार्य मिला है, उसे वही कार्य करना चाहिये, वही उसकी पैतृक सम्पत्ति है, जिसकी रक्षा करना उसका महान् कर्तव्य हो जाता है। मुझे तो इस विचारधारा के पीछे सिवाय दूसरों के अधिकार अपहरण की चिन्ता के और कोई तत्व दृष्टिगोचर नहीं होता।

एक आचार्य ने जात-पांत के सम्बन्ध में कितनी सुन्दर बात कही है—

"जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते।"

जन्म लेते समय-जबकि चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार होता है-प्रत्येक मनुष्य की स्थिति शूद्र के समान होती है। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता है, शिक्षा दीक्षा प्राप्त करके अच्छे संस्कारों को अपनाता है, अपनी आत्मा को संयम और विवेक के प्रकाश से प्रदीप्त कर जीवन में सच्ची प्रगति करता है तब वही मनुष्य द्विज बन जाता है ।

मैंने आप से कहा था कि अपने आपको छोटा और हीन समझना पाप है। मैं यह नहीं कहता कि नम्रभाव रखना पाप है या अपने को बड़ा समझ कर अहंकार का पोषण करना अच्छा है। परन्तु मैं भी आत्मा हूं, और अपने गुणों का विकास करके मैं भी अपने बन्धन तोड़ सकता हूँ, यह स्वाभिमान तो मनुष्य में होना ही चाहिए। यदि ऐसा स्वाभिमान आप के अन्दर जागृत न होगा तो आप कभी भी अन्धकार से प्रकाश में नहीं आ सकते, आत्म विकास नहीं कर सकते। नम्रता, सुशी-लता, वाणी की मधुरता, आचरण की सत्यता आदि मानवीय गुण अपने आप में अधिकाधिक प्रस्फुटित करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए, तभी आप जीवन की सर्वोच्च परि-णति प्राप्त कर सकेंगे। अपना उत्थान पतन भी कुछ लोग ईश्वरीय सत्ता के अधीन मानते हैं। यदि ईश्वर को ही हमें उठाना होता तो हमारी और आपकी आज यह स्थिति न होती, हम कभी के उठ गए होते। हम और आप तो तभी ऊपर उठ सकेंगे जब कि हम स्वयं उठने का प्रयत्न करेंगे; जीवन में स्वयं

जागरण प्राप्त करके अपने बन्धनों को तोड़ने के लिए परमुखापेक्षिता की दूसरों की सहायता की अपेक्षा की उपेक्षा करके ईश्वर को भी एक ओर बैठे रहने के लिए बलपूर्वक यह कह सकेंगे —

"सखे ! मेरे बन्धन मत खोल !
स्वयं बंधा हूँ, स्वयं खुलूंगा, तू न बीच में बोल !!

यह जैन धर्म की विशेषता है कि वह अपने बन्धनों का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लेता है और उनको तोड़ने का भी। वह प्रत्येक आत्मा को ईश्वर और भगवान मानता है। मनुष्य स्वयं ही अपना उत्थान और अभ्युदय कर सकता है। मनुष्य मात्र में महान बनने की अपार शक्ति है।

अखिक भारतीय हरिजन]
सम्मेलन, आगरा]

———

: १८ :

भारत का राष्ट्रवाद

आज मैं अपने श्रोताओं से उस सम्बन्ध में, कुछ कहूँ, जो विचार मेरे सन्मुख प्रस्तुत किया गया है, और वह है—आधुनिक राष्ट्रीयता।

किसी युग में व्यक्ति बड़ा था। वह अपने आप आपको बहुत ऊंचा समझता था। जीवन में केवल अपने लिये ही तैयारी करता था इसके बाद वह कुछ आगे बढ़ा, और परिवार के रूप में एक इकाई को लेकर बैठ गया। वह अपना ममत्व, अपना स्नेह और अपना सुख भूलकर परिवार के रूप में सोचने समझने लगा। फिर और उत्क्रांति हुई। उसने आस पास के हजारों परिवारों से ताल्लुक जोड़ा। वह समाज का रूप बन

गया। उसने विचार किया परिवार तथा समाज के सुख-दुःख अलग नहीं है। इस प्रकार व्यक्ति ने धीरे-धीरे समाज के साथ रोना और हंसना सीखा। वह समाज के आँसुओं के साथ आँसू बहाने लगा, और मुस्कराहट के साथवह भी मुस्कराने लगा इस तरह विकास करते-करते समाज वन खड़ा हुआ।

मानव जाति का विकास वहीं पर समाप्त नहीं हो गया। हजारों समाजों को मिलाकर एक राष्ट्र वनाने का विराट रूप मनुष्य के सामने खड़ा था। उसने समाज की किलेवन्दी से निकल कर एक राष्ट्र सम्बन्ध में सोचना प्रारम्भ किया और हजारों परिवार, हजारों समाज मिलकर राष्ट्र रूप में वन गए। समाज अपना अभ्युदय राष्ट्र के अभ्यूदय में देखने-सोचने लगा। समाज का कल्याण, राष्ट्र के कल्याण के पीछे वंध गया।

अब विचारीय प्रश्न यह है, कि यह राष्ट्र-वेदना हमारी अपनी है, अथवा कहीं वाहर से हमारे अन्दर आ घुसी है? यदि आप भारतवर्ष के इतिहास की कड़ियों को छूते रहे हैं, तो आप को मालूम होगा कि भारत के पुरातन मीषियों ने हजारों-लाखों वर्षों से राष्ट्र के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन किया है। उनका राष्ट्रप्रेम, राष्ट्र भक्ति वहुत ही उच्चकोटि की थी। उन्होंने मानव-समाज को एक दिव्य सन्देश दिया था—

"संगच्छध्वम्, संवदध्वम्"—मनुष्यों, साथ चलो, साथ वोलो! जीवन का आनन्द अकेले रूप में प्राप्त नहीं हो सकता।

मानव तो क्या, भारत का तो ईश्वर भी अकेला नहीं रहा? इस सम्बन्ध में, उपनिषदों में एक वडी सुन्दर भावना आई है-

"एकोऽहं बहु स्याम्" अर्थात् जब मैं एक से अनेक होना हूं। भारत के एक महान् दार्शनिक ने कहा है-"स एकाकी न रमते"- उसका मन अकेले में नहीं लग रहा था। तो भारत का ईश्वर भी एक नहीं रह सकता, फिर वहां का निवासी मानव अकेला कैसे रह सकता है। इस एकाकी पन को मिटाने के निमित्त ही तो परिवार, समाज तथा राष्ट्र की रचना हुई है। भारत के धर्म तथा दर्शन तो प्राचीन काल से ही मनुष्य को एकत्व की भावना से उठाकर उसको विराट रूप का दर्शन कराते रहे हैं। अभिप्राय यह है, कि भारत की पुरातन परम्परा क्षुद्र पिण्ड की बात नहीं करती, वह तो विराट रूप की ओर ले जाती है। एकत्व में अनेकत्व की साधना करती है। हजारों दवाइयों को कूट कर जब एक गोली बनाली गई, तब उसको अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का रूप मिला या नहीं?

यहां हम हिन्दु और मुसलमान के रूप में रहते हैं। हिन्दुओं में भी जैन, बौद्ध, वैष्णव तथा सिक्ख अनेक भेद प्रभेद हैं। मुसलमान भी सिया और सुन्नी के रूप में बंटा हुआ है। फिर राष्ट्रीयता का अधिवास किस में है, हिन्दु में या मुसलमान में? मतलब यह है कि इस भिन्नता में भी भारत की राष्ट्रीयता एक रही है, अक्षुण्ण रही है? भारत ने सुदूर अतीत में भी अनेक जातियों को प्रश्रय दिया है। भारत का इतिहास बतलाता है, कि एक दिन पारसी सुरक्षा की भावना से भारत मां की गोद में आ छिपे। शक तथा हूण भी हिन्दुस्तान में

ही मिल-घुल गए हैं। मुसलमान तो आज भी भारत की भूमि में सुख से रह रहे हैं। भारत में कोई विजेता बन कर आया, कोई व्यापारी के रूप में आया, कोई भेदिया बन कर आया, तो कोई धर्म प्रचारक का बाना पहनकर आया। शत्रु या मित्र जिस-किसी भी रूप में जब कोई विदेशी यहां आया, तो यहीं का बनकर रह गया। भारत की संस्कृति तो गंगाधारा के तुल्य है, जो जिस रूप में आया, सब को अपना बना लिया। सब के सब एक रंग में रंग गए। क्यों कि उस समय भारत की पाचन-शक्ति दुरुस्त थी। उसने सबको पचा लिया, हजम कर कर लिय। आज हम उन जातियों का पृथक्करण करना चाहें, तो कर नहीं सकते ?

पर, दुर्भाग्य है कि आज हमारी वह चिर-पोषित राष्ट्रीयता साम्प्रदायिकता की ज्वालाओं में झुलस रही है ? हमारी पाचन-शक्ति मन्द पड़ गई है। सर्व मंगलमयी-भारतीय संस्कृति की धारा आज क्षीण-शरीरा दीख पड़ती है। फलतः भारत-अखण्ड भारत-पाक और हिन्द के रूप में बंट गया है। पतन का अव-सान यहीं पर न समझिये। जाटिस्तान, सिक्खिस्तान और द्राविडस्तान का सिर दर्द करने वाला कोलाहल अभी शान्त नहीं हुआ है ? बंटवारे का फल हम देख चुके हैं। फिर भी हम बंटवारा चाहते हैं ? यह राष्ट्रीयता की महती विडम्बना है।

आप देखते हैं, कि संसार किधर बढ़ा चला जा रहा है ? चारों तरफ आग सुलग रही है। उस में कभी कोरिया जल

उठता है, कभी इन्डोनेशिया तो कभी हमारा पड़ौसी चीन जल उठता है, सारी दुनियां के भूकम्प से भारत कैसे बचेगा ? आज यदि भारत को संसार में जीवित रहना है, तो अन्दर की जातियता तथा साम्प्रदायिकता की भावना को नष्ट करके सब इकाइयों को मिलाकर राष्ट्रीयता की रक्षा करनी होगी।

रोटी-कपड़े का भी प्रश्न बड़ा पेचीदा है। आर्थिक विषमता भी हमारी राष्ट्रीयता के विकास में अन्तराय बन रही है। इस उलझन को बिना सुलझाये सवाल हल न होगा। जिनको रोटी मिल रही है, उनको तो मिलती रहे और जिन के पास रोटी नहीं है, उनका प्रबन्ध करना होगा। एक तरफ रंगीन महल है, दूसरी तरफ टूटी-फूटी झोंपड़ी। दोनों का सामंजस्य होना चाहिए। या तो झोंपड़ियों को महल बनाना होगा, या फिर महलों को झोंपड़ियों के रूप में आना पड़ेगा। तभी विषमता दूर होगी।

भारत के विचारकों से जब कभी इस संदर्भ में विचार चर्चा होती है, तो मालूम होता है, कि इन के पास कोई मौलिक समाधान नहीं है ? इधर का उधर करने से क्या होना-जाना है ? इस बारे में मुझे अन्धों की एक बड़ी सुन्दर कल्पना याद आ रही है—

किसी सज्जन ने दस अन्धों को भोजन कराने की व्यवस्था की। थाली में भोजन लाया गया। एक अन्धे के सम्मुख थाली रखी, और कहा—क्यों सूरदास जी! भोजन आ गया है न ? इसके

इधर-उधर टटोल कर कहा—हां, आ गया है। यही थाली फिर दशों के पास फिर गई। और अन्त में यह थाली जहां की तहां पहुँच गई। घर मालिक ने कहा कि अब आप भोजन कीजिये। हाथ चला तो थाली गायब? अन्धे एक दूसरे पर अविश्वास करने लगे। यहां तक कि जब उन लोगों में परस्पर मुक्के बाजी होने लगी, तो घर के मालिक ने कहा-"तुम सब के सब नालायक हो। मेरे घर से निकलो।" सब के सब हाथ मलते लौटे।

अन्धों की थाली के हेर-फेर की तरह समाज तथा राष्ट्र की आर्थिक समस्या हल होने वाली नहीं है? व्यापारी का थाली मजदूर के आगे, मजदूर की किसान के आगे और फिर किसन की बुद्धि-जीवी शिक्षक के आगे सरकाने से काम न चलेगा। सब के पेट की आग को शान्त करने से ही राष्ट्र सुखी बन सकेगा। और यह महत्वपूर्ण कार्य सरकार तथा जनता के सहयोग से ही पूरा होगा।

एक युग था—जब राजा, राजा था और प्रजा, केवल प्रजा। हज़ारों लाखों वर्षों तक ऐसी हुकूमत रही है, जिस में राजा, राजा के रूप में तथा प्रजा, प्रजा के रूप में परिसीमित थी। वैसा युग अब नहीं रहा। लोग कहते हैं, कि भारत में अब प्रजातंत्र आगया है। पर, मैं यह कहता हूँ कि भारत के लिये यह कोई नई वस्तु नहीं है। भगवान महावीर के युग में भी प्रजातंत्र था। वे भी वैशाली प्रजातंत्र राज्य के राजकुमार थे।

आज सरकार और प्रजा के बीच दीवार-सी खड़ी हो गई जो

वह अब नहीं रहनी चाहिए। प्रजातंत्र का मतलब है—राजा तथा प्रजा के मध्य में जो भेद की दीवारें हैं, उन को तोड़ देना। वर्तमान में राष्ट्रपति भी प्रजा है, और नेहरू पटेल भी प्रजा है तथा प्रजा भी राजा है। सरकार को प्रजा के हित में और प्रजा को सरकार के हित में सोचना-समझना है। एक-दूसरे के साथ चलना है। दोनों हाथ धोने हैं, तो एक अकेला हाथ अपने आप को नहीं धो सकता। दोनों का सहयोग आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार प्रजा की समस्या सरकार को, सरकार की कठिनता प्रजा को हल करनी है। आज तो प्रजा सरकार की आलोचना करती है तथा सरकार प्रजा की। घर के चौधरी की अपेक्षा पंचायत के चौधरी की मुसीबत बढ़ जाती है। आप विचार कीजिए यदि आप में से कोई नेहरू तथा पटेल की गद्दी पर होते, तो आप के समक्ष क्या परिस्थिति बनती?

एक बात और है, कि भारत का निर्माण पश्चिमी संस्कृति से होने वाला नहीं है, भारत का उद्धार उन्हीं पुराने आदर्श तथा प्राचीन तेजस्वी विचारों से हो सकेगा। भारत के पवित्र हृदय में पाश्चात्य संस्कृति के बीज नहीं पनप सकते। क्या भारत के पास एक-दूसरे के सुख-दुख को समझने की शक्ति नहीं है? क्या भारत को अपनी रोटी तलाश करने का ढंग नहीं आता? क्या भारत में अपना मकान अपने ढंग से खड़ा करने की कला नहीं है? क्या हम भाई को भाई के रूप में समझने की शिक्षा कहीं बाहर से लायेंगे? यह कला तो हमें अपने पुराने ऋषियों से

हजारों वर्षों से मिली है। राम और कृष्ण, महावीर और बुद्ध तथा गांधी ने हमें यही शिक्षा दी है, यही कला सिखलाई है। आज हम उस दिव्य कला को पाश्चात्य संस्कृति की आपातलो रमणीय चकाचोंध में गुमा बैठे हैं।

बड़े खेद की बात है कि बीसवीं सदी का भारत अपने गौरव पूर्ण प्राचीन इतिहास को भूल बैठा है। भारत के तेजस्वी सम्राट विक्रमादित्य के जीवन को क्या आप भूल गए हैं? जब सम्राट विक्रमादित्य राज-सभा में आते, तब हीरा मणिक्य खचित सुवर्ण सिंहासन पर विराजित होते थे। ऐसा मालूम होता था, कि साक्षात् इन्द्र ही स्वर्ग से उतर कर आ विराजा है? किन्तु उनका व्यक्तिगत जीवन इस से भिन्न था। भारत के विदेशी राजदूत जब व्यक्तिगत बातचीत के समय सम्राट् को तृण निर्मित चटाई पर बैठा देखते, तब विस्मय में पढ़ जाते थे। जब कोई पूछता कि आप सम्राट् होकर भी इस चटाई पर क्यों बैठते हैं, तब सम्राट् मुस्करा कर उत्तर देते—यह भारत-वर्ष है। यहां का राजा राजा भी है, और प्रजा भी। यह मेरा व्यक्तिगत सिंहासन है, और वह मेरी प्रजा का? प्रजा का कार्य करता हूँ, तभी उस सुवर्ण सिंहासन पर बैठता हूँ। यह है, भारत का उज्ज्वल राष्ट्रवाद।

सम्राट चन्द्रगुप्त का राज गुरु और अखण्ड भारत का प्रधान मन्त्री आर्य चाणक्य सुनहरी महलों में नहीं, परण कुटी में निवास करता था। रिक्त समय में छात्रों को ज्ञान-दान भी

करता करता था। यह है, भारत का पुरातन प्रजातंत्र। यह है, भारत की प्राचीन आदर्शमयी राष्ट्रीयता। आज हम फिर भारत में इसी राष्ट्रीयता को देखना चाहते हैं, लाना चाहते हैं।

देश क्या है? और राष्ट्र क्या है? इस सम्बन्ध में तो सारी जिन्दगी सोचना पड़ेगा। एक दिन और एक घड़ी का सोचा हुआ, कुछ काम नहीं आता। सोते और जगते, चलते और बैठते तथा खाते और पीते जैसे मनुष्य अपने व्यक्तित्व को संभाले रखता है, इसी प्रकार राष्ट्र के जीवन में भी अपना व्यक्तित्व घुल-मिल जाना चाहिए। जैसे मनुष्य अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता है, इसी भाव से इसी लगन से राष्ट्र के व्यक्तित्व की रक्षा करना सीखें, तभी राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है?

स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है कि जब मैं जापान गया था, तब वहां मैंने एक बड़ी सुन्दर घटना देखी। जिस जहाज में, मैं यात्रा कर रहा था, उसी में कुछ हिन्दुस्तानी भी यात्रा कर रहे थे, वे हिन्दू थे। जब इन्हें अपनी विधि के अनुसार निरामिष भोजन नहीं मिला, तब ये लोग जापान तथा उस जहाज के संचालकों की निन्दा करने लगे। पास में बैठा एक लड़का यह सब कुछ सुन रहा था। वह उठा, और थोड़ी देर में कुछ फल लाकर हिन्दुस्तानियों को देकर बोला,—लीजिए, आपका भोजन तैयार है। हिन्दू सज्जन बोले—[illegible] फल [illegible]? इनके पैसे ले लीजिए। उस लड़के ने गम्भीर मुद्रा बनाकर कहा—आप

की कृपा है। मुझे पैसों की चिन्ता नहीं है। इसके बदले में, मैं आप लोगों से यह मांगता हूँ, कि हिन्दुस्तान में या अन्यत्र कहीं भी जाकर इन शब्दों का प्रयोग न करें—"हमें जापानी जहाज में बड़ी असुविधा रही, भोजन भी नहीं मिला।"

प्रिय बन्धुओं! यह है, राष्ट्रीयता। भारत को आज इसी प्रकार की राष्ट्रीयता की आवश्यकता है। देश का सम्मान, राष्ट्र का गौरव हमारा अपना सम्मान और गौरव बन जाना चाहिये। मजदूर अपने लिए नहीं, राष्ट्र के लिए काम करें। व्यापारी अपने लिए नहीं राष्ट्र के लिए धन जुटाएं। शिक्षक अपने पेट के लिये नहीं राष्ट्र कल्याण के लिये शिक्षा-दीक्षा दें। भारत के प्रत्येक नागरिक की हरेक हरकत जब राष्ट्र के उत्थान के लिये, अभ्युदय के लिए होगी, तभी भारत बलवान बन सकेगा, ऊंचा उठ सकेगा। इस प्रकार की भावना जिस-किसी राष्ट्र में होती है, वहां की प्रजा और राजा दोनों सुखी रहते हैं, समृद्ध बन जाते हैं।

:१६:

जनतन्त्र–दिवस

आज यहां पर आचार्यश्री गणेशीलालजी महाराज का पदार्पण हुआ है, यह आपके तथा हमारे लिए परम हर्ष का विषय है। हृदय के इसी उत्साह और उमंग को लेकर आप लोग यहां एकत्रित हुए हो। आचार्यश्री जी की पावन प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर भूमिका के रूप में अपने कुछ विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ।

आज का विषय विचारणीय है। मैंने सूचना-पट पर दृष्टि-पात किया था, जिस पर लिखा हुआ था-'जनतन्त्रोत्सव'। शर्मा जी तथा गजेन्द्र बाबू ने अभी-अभी आप लोगों के सामने हर्तंत्री से राष्ट्रीय गान की तान सुनाकर इस भावना को मूर्तरूप दिया था।

आज हम सब 'जनतन्त्र दिवस' मना रहे हैं। किन्तु सर्व प्रथम इस बात का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण-परीक्षण करना है कि हमारा मन बदला है या नहीं ? हमारी चेतना में उल्लास एवं स्फूर्ति आई है या नहीं ? यह बात किसी और से नहीं, अपने मन से पूछें, अन्तस्तल में पैठ कर देखो कि 'जनतन्त्र दिवस' पर हमारी मानसिक वृत्तियों में कितना परिवर्तन हुआ है ? हमारा मानसिक धरातल बदला है या नहीं ? हमारे जीवन की धारा पहले किस दिशा में प्रवाहित हो रही है ? सर्वतोमुखी विकास करने के लिए हमें आगे किस ओर कदम बढ़ाना है ? 'जनतन्त्र दिवस' पर हमारे ऊपर कितना उत्तरदायित्व आ गया है ? और उसकी पूर्ति के लिए हमारा क्या कर्तव्य है ?

उपर्युक्त उलझनों का सिरा पाने के लिये भारतीय संस्कृति का एक दिव्य सन्देश हमारी ओर अंगुली-निर्देश कर रहा है। वह यह कि 'अपने आप में सीमित न रहो'। आज हमारे जीवन की गति विधि यह हो गई है कि हम प्रत्येक दिशा में अपने को अपने आप में ही सीमित कर लेते हैं। आज का मनुष्य अपने विषय में ही सोचता है। खाना-पीना, सुख-सुविधा आदि समस्त कार्य केवल अपने लिए ही करता है। किन्तु भारत की चेतना भारत का स्वभाव इससे सर्वथा विपरीत रहा है। उसने कभी भी अपने लिये नहीं सोचा है। उसका सुख अपना सुख नहीं रहा है, और न ही उसका दुख भी। भारत सदैव प्राणीमात्र के जीवन को अपने साथ लेकर गति करता रहा है।

इसने न कभी अपनी पीडा से आर्त होकर आंसू छलकाए हैं और नहीं सुख में भान भूलकर कहकहा लगाया है। हां, दूसरे को कांटा चुभने पर इसने अपने अश्रुकणों से उसके दुःख को धोकर हलका करने का सत्य प्रयत्न अवश्य किया है।

जैन धर्म से हमारा निकटतम सम्बन्ध है। जीवन के प्रभात से हम उसकी गोद में खेले और पले हैं। जब हम जैन-धर्म का तलस्पर्शी अध्ययन करते हैं, तो इसी निर्णय पर पहुंचते हैं कि वह अपने जीवन में प्रत्येक प्राणी का—फिर चाहे क्षुद्र चींटी से लेकर विशालकाय गजेन्द्र तक क्यों न हो—सुख दुःख लिए हुए है। प्राणीमात्र को दुःख के गहन गर्त से निकालना उसका परम एवं चरम कर्तव्य रहा है। दूसरे को दुःखार्त देखते ही उसका अन्तःकरण सिहर उठता है। वह अपना आनन्द, अपना सुख अपनी चेतना, अपना अनुभव, किं बहुना,—अपनी सम्पूर्ण शक्ति विश्वजनीनता के लिए अर्पण करने को सदैव सन्नद्ध रहा है। इसकी चेतना की धारा अजस्र [illegible] रूप से प्रवाहमान रही है। गजेन्द्र बाबू ने कहा था,—

"आज इतिहास गुण गा रहा है हमारा"

किन्तु विचार करना है कि क्या लक्ष्मी-वैभव के कारण इतिहास हमारा गुण-गान कर रहा है? या तलवार की पैनी धार से शत्रुओं के सिर धड़ से अलग करने के कारण? अथवा ऊँचे-ऊँचे [illegible] पर सोने की [illegible] ([illegible]) के कारण? नहीं, कदापि नहीं। हमारा गुण-गान इसलिए हो

रहा है कि भारत की जो चेतना, जो संस्कृति है, वह व्यष्टि की न होकर समष्टि की रही है। समष्टि के सुख में ही उसने अपना सुख माना है। उसी हार्दिक विराटता के कारण आज इतिहास हमारा गुण गा रहा है।

भगवान महावीर के युग में जनता के मन में एक दार्शनिक प्रश्न उलझा हुआ था कि 'पाप कहां बंधता है, और कहां नहीं'? इस यक्ष-प्रश्न को सुलझाने के लिए न मालूम कितने दार्शनिक मस्तिष्क की दौड़ लगा रहे थे। किन्तु भगवान महावीर की जन कल्याणी वाणी ने जनता के हृदय-कपाट खोल दिये। उन्होंने बतलाया कि इस प्रश्न का समाधान अन्तर्मुख होने से मिल सकता है। जब मानव व्यष्टि के चक्कर में फंस कर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रवृत्ति करता है, अपनी आवश्यकताओं को ही सर्वाधिक महत्व देता है, अपने ही सुख-दुःख के विषय में विचार करता है, तो वह पाप कर्म का उपार्जन करता है, किन्तु जब उसकी चेतना व्यष्टि की ओर से समष्टि की ओर प्रवाहित होती है, जब वह अपने वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठकर विश्व कल्याण की सद्भावना से प्रेरित होकर विशुद्ध प्रवृत्ति करता है, तो वह विश्व में शान्ति का साम्राज्य स्थापित करता है, फलतः पाप-कर्म में लिप्त नहीं होता। वह दिव्यवाणी आज भी भारत के मैदान में गुंज रही है—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
विहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ ॥

अपने अन्तर्हृदय को टटोलकर देखो कि आप विश्व के प्रत्येक प्राणी को आत्मवत समझते हो या नहीं ? यदि आप प्राणीमात्र को आत्ममयी दृष्टि से देखते हो, उन्हें कष्ट पहुंचाने का विचार नहीं रखते हो, उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझते हो, तो तुम्हें पाप कर्म का बंध नहीं होगा। पापों का प्रवाह प्राणियों को दुःख देने से आता है। दुःख मिटाने से नहीं। अतः ज्यों-ज्यों हमारे अन्दर समाज, राष्ट्र और विश्व की विराट चेतना पनपती जाती है त्यों-त्यों पाप का बन्ध भी न्यून-न्यूनतर होता जाता है। जब हम वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना से ऊपर उठ कर जागतिक चेतना से उत्प्रेरित होकर अखिल विश्व को अपनावना लेते हैं, उसके सुख-दुःख में अपनेपन की अनुभूति करते हैं, तब हमारा पापास्रव का द्वार बन्द हो जाता है। अतः हमें अपने अन्दर ही सीमित नहीं होना है प्रत्युत हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति विश्वहित के लिए होनी चाहिये तथा उसका प्रकाश प्राणीमात्र को मिलना चाहिये। आज के दिन हमें यही शुभ-पाठ सीखना है।

हिंसा और अहिंसा का विश्लेषण एवं उसकी विविध परिभाषाएं किया करते हैं। किन्तु संक्षेप में हिंसा और अहिंसा का निचोड़ करना चाहें तो यह कर सकते हैं—जो व्यक्ति अपने ही सुख-दुःख में घुलता रहता है अपने निजी स्वार्थों से चिपटा रहता है, वह हिंसा करता है, और जो व्यक्ति 'स्व' की सीमा का अतिक्रमण कर दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार

चलता है, दूसरों के आंसुओं को पोंछकर उनके निराश एवं हताश हृदयों में आशा का मधुर संचार करता है, वह अहिंसा का पुजारी है। आज हमारी वाणी में बल नहीं है, प्रवृत्तियां शिथिल हैं, चेतना सुषुप्त है। इसका मूल कारण यही है कि हम अपने आप में सीमित हो रहे हैं। तात्विक दृष्टि से यही हिंसा है, पाप है।

अहिंसा के महान् कलाकार विश्वहितकर भगवान महावीर ने अपने एक प्रवचन में विश्व को यह प्राणप्रद संदेश दिया था—

"असंविभागी न हु तस्स मुक्खो"

जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का, अपनी शक्ति का संविभाग नहीं करता—केवल अपने लिये ही उसका उपयोग करता है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, चाहे ऊपर से वह कितना ही क्रियाकाण्ड करता रहे, अपने को सम्यक्त्व का अधिकारी मानता रहे। जब तक सामाजिक एवं जागतिक चेतना की ओर जीवन धारा प्रवाहित नहीं होगी, प्राणीमात्र को आत्मवत् समझकर उसके संविभाग की मौलिक भावना जागृत नहीं होगी, तब तक मोक्ष प्राप्ति असम्भव है। यह जैन धर्म का सार्वजनीन मूल सूत्र है।

इसी तरह का प्राण संचारक उपदेश कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन के घोड़ों की वागडोर संभाले हुए कृष्ण ने गीता में दिया है। आप लोगों ने भी इसका परिशीलन किया होगा। परन्तु

चिन्तन एवं मनन न होने के कारण सम्भव है वह विश्व चेतना मय उपदेश आपकी बुद्धि पर अङ्कित न हो सका हो। अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कृष्ण कहते हैं—

"भुङक्ते ते त्वघं पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात।"

जो व्यक्ति अपने लिए रोटी पकाता है, वह रोटी नहीं, पाप पकाता है। जो केवल अपने आप ही वस्त्र पहनता है, वह वस्त्र नहीं, पाप पहनता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने लिये ही सुख-सुविधा की सामग्री जुटाने में व्यस्त रहता है, वह सुख सामग्री एकत्रित नहीं करता, किन्तु पाप बटोरता है।

सहस्रों वर्षों से इतना मौलिक उपदेश मिलते हुए भी हमारा जीवन तदनुरूप नहीं बन पाया, इसका मुख्य कारण यही है कि हम शास्त्रों का केवल शुक-पाठ करना ही सीखे हैं, इसी में धर्म मान बैठे हैं। किन्तु कार्य तो चिन्तन तथा मनन करने पर ही होगा। जब तक हम शास्त्रों का गहन चिन्तन करके उन्हें जीवन का स्थायी अंग नहीं बनायेंगे, तब तक समाज का, राष्ट्र का एवं विश्व का उत्थान नहीं हो सकता और इनका उत्थान हुए बिना हमारे जीवन का उत्थान होना भी सुतरां असम्भव है, क्योंकि इनके साथ हमारा जीवन-सूत्र अटूट रूप से सम्बन्धित है।

भारत सदा कार्य करना सीखा है, बातें बनाना नहीं। उसने दोषमयी दृष्टि से दूसरे की ओर आंख उठा कर देखने

का कभी प्रयास नहीं किया है । दूसरे [illegible]
पड़ा है तो "संबुज्झह किं न बुज्झह" तथा "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" आदि मधुर-मधुर एवं जीवन स्पर्शी, वचनों द्वारा जागरित करना तो उसका परम कर्त्तव्य रहा है, किन्तु निन्दा तथा आलोचना करना उसकी मनोवृत्ति के प्रतिकूल रहा है। इस दिशा में वह केवल अपनी ओर देखता है तथा अपने ही जीवन का निरीक्षण-परीक्षण करता है । किन्तु आज हम समाज तथा राष्ट्र की कटु आलोचना तो कर देते हैं, टीका-टिप्पणी करने के लिए लम्बे भाषण भी दे सकते हैं, परन्तु जब कार्य करने का समय आता है तब दायें बायें झांकने लगते हैं। बातें बनाना हम अपना कर्तव्य समझते हैं और कार्य करने की आशा हम दूसरों से रखते है। इसी भावना के पीछे हमारे पतन के बीज छिपे हैं ।

यदि हमें अहिंसा का दिव्य सन्देश विश्व को देना है तो उसकी भूमिका अपने जीवन से ही प्रारम्भ करनी होगी । जीवन में उदारता का प्रसार करने के लिये हृदय को विशाल और विराट बनाना होगा, दूसरे की आशा न रखते हुए प्रत्येक सत्कार्य अपने बाहुबल से करना होगा ।

किन्तु आज हम एक दूसरे की दुरालोचना करने में जीवन के अमूल्य क्षण नष्ट कर रहे हैं। मुझे अपनी आंखों देखी घटना याद आ रही है। एक बार हम विहार करते हुए जा रहे थे । सड़क के बीच में एक बड़ा सा पत्थर पड़ा हुआ था । कितने

ही यात्री आये और दृष्टिपात करते हुए आगे निकल गए। इतने में एक बैलगाड़ी आई। गाड़ी का पहिया पत्थर से टकराने पर गाड़ीवान भी 'किस शैतान ने पड़क के बीच में पत्थर डाल दिया है' आदि गालियां सुनाता हुआ आगे निकल गया किन्तु इतना नहीं हो सका कि उस रास्ते के रोड़े को अलग कर दे।

यह एक छोटी सी घटना है। इस प्रकार की घटनाएं हमारे दैनिक जीवन में न जाने कितनी बार घटती हैं। हमारी जीवन गाड़ी के सामने बहुत से रोड़े आते हैं। हम उनकी आलोचना करते हुए चले जाते हैं, किन्तु, उन्हें दूर करने का तनिक भी प्रयास नहीं करते। आज समाज में अछूत, जातिभेद,-साम्प्रदायिकता आदि कई रोड़े जड़ जमाये हुए हैं, किन्तु हमारे अन्दर उन्हें उखाड़ फेंकने की भावना ही जागृत नहीं होती।

मैं आचार्य जिनदास महत्तर की वाणी का मनन कर रहा था। वह पद-पद पर रत्न और जवाहिरात बिखेरते हुए चले गए हैं। एक जगह उन्होंने कहा है—

"संतं वीरियं न निगूहिलध्वं, संते वीरिए न आणाइयव्वो"

यदि तुम्हारे अन्दर शक्ति है, प्रकाश है तो उसे छुपाने का प्रयत्न मत करो। अपनी शक्ति का गोपन करना एक भयंकर सामाजिक पाप है। चाहे हम जिनदास की वाणी का अध्ययन करें अथवा भगवान महावीर की वाणी का पैनी दृष्टि से अनुशीलन करें, सबके मूल में यह दिव्य सन्देह रहा हुआ है।

आज जनतन्त्र दिवस है। आज हमें अपने जीवन को राष्ट्र का, प्राणी-प्राणी का जीवन बनाना है। हमें इस ढंग से कार्य करना है जिससे हमारे जीवन को, हमारे कार्य को, हमारी भाषा को देखते ही विश्व के प्रत्येक कोने का मानव कह उठे कि "यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र जनतन्त्र भारत का सच्चा नागरिक है।" ऐसे जनतन्त्र को ही हम सच्चा जनतन्त्र कह सकते हैं।

:२०:

कर्तव्य—बोध

पहले अपने को और फिर दूसरों को देखो

दूसरों के दोषों को देखना, जितना सरल है, अपने आत्म-स्थित को देख सकना, उतना ही कठिन है। मनुष्य अपने ही गज से जब अपने आपको नापता है, अपनी ही विचार-तुला में जब अपने आप को तोलने बैठता है, और अपने ही दृष्टिकोण से जब आपको परखता है, तब निःसन्देह वह अपने को ज्ञानी विवेकी और अनुभवी समझने लगता है। उसने अपने सम्बन्ध में जो कल्पना करली है, एक मानसिक चित्र तैयार कर लिया है, उसके विपरीत जब कोई मनुष्य विचार करता है, या बोलता है, अथवा प्रवृत्ति करता है, तब वह उसे अपना विरोधी,

वैरी और आलक घोषित कर देता है। उसके सम्बन्ध में जन-जन के मानस में द्वेष घृणा और नफरत फैलाता फिरता है। उसे निन्दक और आलोचक कहता है।

वस्तुतः वह स्वयं ही अपना वैरी है, विरोधी है, और है अपना परम शत्रु। अपनी योग्यता से अधिक अपने को समझना अपने दोषों को भूलकर, अपने अवगुणों को भी गुण समझने की भूल करना—"यही तो है, पतन का पथ।"

एक विचारक ने अपनी पुस्तक में लिखा है, कि "प्रत्येक कार्य में छोटी-छोटी भूलों का भी पता पा लेना सफल जीवन का और साधक जीवन का परमोच्च रहस्य है।" जिस ढंग से व्यवसायी अपनी रोकड़ मिलाता है, उसी ढंग से ही साधक को भी अपने जीवन का हिसाब-किताब साफ रखना है। एक पैसे की भूल से भी रोकड़ गड़बडा जाती है, उसी प्रकार एक भी त्रुटि से भले ही वह नगण्य भी क्यों न हो—साधक का धवल-जीवन धूमिल एवं मलिन बन जाता है।

संस्कृत भाषा में एक शब्द है—"दोषज्ञ।" सामान्यतः इसका अर्थ होता है दोषों को जानने वाला। विशेषतः इसका अर्थ होता है—"पंडित।" एक आचार्य ने कहा है—"मनुष्येण दोषज्ञेन भवितव्यम्।" मनुष्य को दोष-दर्शी होना चाहिए। दोष देखना, पंडित का लक्षण है। जो भूल देख सकता है, भूल पकड़ सकता है, वही सच्चा पण्डित है।

पर, प्रश्न उपस्थित होता है कि दोष किस के देखें? अपने

या पराये ? पराये दोष देखते-देखते ही अनन्त-काल हो गया, परन्तु, आत्मा का क्या सधा उससे ? अतः फलित हुआ कि अपने दोषों को देखो, उन्हें उसी क्रूरता से पकड़ो, जितनी क्रूरता से दूसरों के दोषों को पकड़ते हो। जिसने अपने को पकड़ा, अपनी चोरी पकड़ी, वही सच्चा पण्डित है, वही सच्चा सद्गुरु है।

अपने स्वभाव, अपने विचार और अपने व्यवहार की परीक्षा करने से मनुष्य को अपनी बहुत-सी कमजोरियों का पता चल जाता है। दूसरों को दूषण देने की अपेक्षा अपने को ही परखना सीखना चाहिए, यही जीवन की यथार्थ कला है। भगवान् महावीर ने अपने साधकों को सावधान करते कहा—

"जाए सद्धाए निक्खंता तामेव अनुपालिया।" साधको ! जिस श्रद्धा से, जिस विश्वास से और जिस मजबूती से तुमने साधना के महामार्ग पर अपना पहला कदम रखा है, उसी श्रद्धा से, उसी विश्वास से और उसी मजबूती से जीवन की सन्ध्या तक निरन्तर चलते रहो ! अपनी गति को यति देना, तो दुर्बलता नहीं है, परन्तु पथ से स्खलित हो जाना, विचलित हो जाना, अवश्य तुम्हारे लिए कलंक है, दूषण है, दोष है। और दोषमय जीवन साधक के लिए विष है, मृत्यु है। उसका जीवन तो दोष विवर्जित होना चाहिए।

संसार को दोष देने के पूर्व साधक पहले अपनी ओर देखले कि कहीं दोष का बीज स्वयं उसी में तो नहीं है ? जो साधक

संसार को प्रकाश दे[illegible] अपना भी अवलोकन कर लेना चाहिए कि कहीं उसी के हृदय-सदन में तो अन्धेरा नहीं है। जो दूसरों का पथ-प्रदर्शक बन कर निकला है, कहीं वहीं तो उन्मार्ग पर नहीं चल पड़ा है? साधक को इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जो विकार उसे बाहर दीख रहा है, उसका मूल कहीं उसी के भीतर तो नहीं है न? साधक यदि अपने आप में सावधान होकर चलता है, जागरूक होकर अपने पथ पर बढ़ रहा है, तो फिर संसार कुछ भी क्यों न कहे? उसे भय क्यों हो?

यदि अभिभावक, माता पिता और गुरुजन यह कहते हैं, कि आज-कल के शिष्य, आज-कल के पुत्र पूर्व काल के शिष्य और पुत्रों की भांति गुरुभक्त नहीं हैं, माता-पिता के अनुशासन को नहीं स्वीकार करते, तो उन्हें यह भी देखना चाहिए, कि कहीं उनमें स्वयं गुरुत्व का अभाव तो नहीं है? यदि किसी अभिभावक में अभिभावकत्व नहीं है, तो फिर उसका सत्कार, सम्मान और पूजा का स्वप्न देखना भी व्यर्थ है। भूख लगने से ही किसी को भोजन नहीं मिलता। प्रत्येक अभिलाषा की पूर्ति त्याग और श्रम साध्य होती है। किसी भूले राही को उसके पथ का बोध कराना एक बात है और उसे अपने पुराने वैर का शिकार बनाना बिल्कुल अलग है।

चीन देश के प्राचीन दार्शनिक कनफ्यूशस ने कहा है कि "वही श्रेष्ठ राष्ट्र है" जिसमें राजा अपना, प्रजा अपना, पिता और

पुत्र अपना, माता और पुत्री अपना तथा गुरु और शिष्य अपना कर्तव्य निष्ठा के साथ पूरा करते हैं। वस्तुतः बात बहुत ही ऊंची कही गई है। सब अपने कर्तव्य को समझ कर उसके अनुसार आचरण करें। मर्यादा का अतिक्रमण अपने ही लिए अकल्याण कर होता है। जो स्वयं अपने आचरण को मर्यादित नहीं कर सकता, वह दूसरों को अनुशासन में कैसे रख सकेगा? अतः आत्म-शासन सहज नहीं है, अपने पर अधिकार दुष्कर है। थोड़ा सा अधिकार पाते ही मनुष्य आपे से बाहर हो जाता है। शक्ति के उन्माद में अपना कर्तव्य भूल जाता है। नीति शास्त्र के धुरन्धर विद्वान आचार्य शुक्र के शब्दों में-"अधिकार मद को चिरकाल तक पीकर कौन नहीं मोहित होता-" अधिकार-मदं पीत्वा को न मुह्यात् पुनश्चिरम् ॥

भगवान महावीर ने साधकों को शिक्षा देते हुए कहा- "प्रत्येक साधक को प्रतिदिन अपने आप से ये तीन प्रश्न करने चाहिए और अपनी अन्तरात्मा से उत्तर लेना चाहिए—

"किं मे कडं किंच मे किच्च सेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥।

मैंने अपने कर्तव्य-कर्मों में से क्या-क्या कर लिया है? अब, क्या करना शेष रह गया है? और वह कौनसा कर्तव्य है? जो मेरी शक्ति की परिधि में होकर भी अभी तक मेरे से बन नहीं सका है?

पर्युषण-पर्व के इन महत्व-पूर्ण तथा सौभाग्य-भरित दिवसों

में श्रमण और श्रमणी तथा श्रावक और श्राविका अपनी आत्मा के चिर-पोषित विकारों को चुन २ कर बाहर निकाल सके, और अपने कर्तव्य-कर्मों में स्थिर होकर निष्ठा पूर्वक अपना २ भाग अदा कर सकें, तो अवश्य ही वे अपनी सुप्त आत्मा को जागृत करने के प्रयत्न में सफल होंगे। दूसरों के दोष न देख कर, यदि हम अपने ही दोष देखना सीख लें, तो आज तक हमारा दूषण ही भूषण बन सकता है। जीवन की गति और यति में समन्वय सध सकता है।

मानपाड़ा, आगरा]